कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

# गद्य-माधवी

[ इंटरमीडियट कक्षाओं के लिये ]
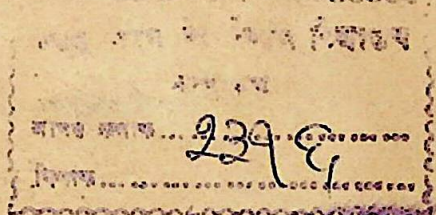
संग्राहक—

शिवनारायण श्रीवास्तव एम० ए०, बी० टी०

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

तिलकधारी डिग्री कालेज, जौनपुर

प्रकाशक

एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस

बनारस

१९५२ ] [ मूल्य २।)

प्रकाशक
एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस
बनारस



प्रथम संस्करण
१९५२

This book is belongs to sree Ram Lal Tiwari the student of Utter Madhyama second year.



मुद्रक
देवता प्रसाद गहमरी
संसार प्रेस, काशी

Vindhyachal Tripathi

## अपनी ओर से—

पुस्तक की प्रशस्ति में कुछ अधिक न कहकर मैं केवल उन तथ्यों की ओर ही सीधा संकेत कर देना चाहता हूँ, जिन्हें दृष्टि-छाया में रखकर मैंने उच्चतर-माध्यमिक कक्षाओं के लिए इस संग्रह का संकलन किया है। किसी अत्यधिक ऊँचे आदर्शवाद के लिए अति-प्रयत्नशील न होकर, मैंने उन्हीं निष्कर्षों को अपना संबल बनाया है, जो इन कक्षाओं के लगभग एक दशक तक पढ़ाने के पश्चात् मुझे अनुभव-द्वारा प्राप्त हुए।

हिन्दी के अधिकांश गद्य-संग्रह पाठ-क्रम से संकलित किये गये हैं और उनमें समय की दृष्टि से लेखकों के पूर्वापर क्रम की ओर भी ध्यान नहीं दिया गया है अथवा आवश्यक नहीं समझा गया है। निबन्धों के चयन में मैंने उन्हें लेखक-क्रम से प्रस्तुत किया है और काल-क्रम का भी ध्यान रखा है। ऐसा करके मैंने पाठकों की स्मृति में लेखकों के समय के विषय में एक सहज-साध्य एवं अज्ञात रूप से पड़नेवाले संस्कार की प्रत्याशा की है। प्रायः विद्यार्थी विभिन्न प्रतिष्ठित एवं मान्य निबन्धकारों के निबन्ध पढ़ते हैं, किन्तु गद्य के क्रमिक विकास एवं लेखकों के ऐतिहासिक क्रम के संस्कार क्षीण ही रह जाते हैं। किन्तु, साथ ही यह भी ध्यान रखा गया है कि यथासाध्य सरल एवं अपेक्षाकृत क्लिष्ट निबन्धों का पूर्वापर-क्रम भी अक्षुण्ण रहे।

मेरा अपना मत है कि हिन्दी में निबन्धों की अपनी एक स्वतंत्र विकास-सरणि है। उसमें वर्णनात्मक, भावात्मक, विचारात्मक, कल्पनात्मक अथवा विषय-निष्ठ एवं व्यक्ति-निष्ठ निबन्ध-भेद-प्रभेदों की अपनी निजी सम्पत्ति है। इस संग्रह में भाषा, साहित्य, कला, शिक्षा, संस्कृति, इतिहास एवं समीक्षा आदि सभी विषयों के समावेश के अतिरिक्त हिन्दी-गद्य-साहित्य की विभिन्न शैलियों एवं विभिन्न प्रतिष्ठित शैलीकारों की प्रति-

निधि-रचनाओं को अन्तर्भुक्त करने का प्रयत्न किया गया है। निवन्धों के इस चित्राधार में मैंने पं० बालकृष्ण भट्ट से लेकर डा० नगेन्द्र तक की हिन्दी-गद्य-साधना की झाँकी दिखाने का प्रयत्न किया है। इसमें भट्ट जी की आरम्भिक विचारशीलता, मिश्रजी की वाणी-विदग्धता, आचार्य द्विवेदी जी के हिन्दी-नायकत्व का गम्भीर स्वर, वावू साहव की शैली की सहज प्रसन्नता, आचार्य शुक्ल का गुरु-गाम्भीर्य, प्रसाद की मुग्ध-मनीषा, राय साहव की गद्य-माधुरी, वियोगीहरि जी की भावुकता की विभूति, पन्त की काव्यमयी सौन्दर्य-दृष्टि, उग्रजी की प्रतिभा-प्रखर-लेखनी, जैनेन्द्र की अन्तर्तलीय दृष्टि, विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र का शास्त्रीय सौन्दर्य-मान, महादेवी की चित्र-मयी अभिव्यक्ति, आचार्य द्विवेदी जी की नवीन निवन्ध-दिशा, डा० रघुवीर की अतीत-मुखी भाव-प्रवणता एवं डा० नगेन्द्र की नवीन पारिभाषिकों से जटित मौलिक विवेचना को छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास सफल हो सका है या असफ़ल, इसे मेरे सहयोगी एवं पाठक ही वतला सकेंगे।

आरम्भ में गद्य-विकास के संक्षिप्त इतिहास के साथ ही छात्रों की सुविधा के लिए शैली-निरूपण के मान-दंड भी दे दिए गये हैं। पीछे जो टिप्पणी दी गई है, उसमें कठिन शब्दों, संस्कृत के श्लोकों आदि के अर्थ के साथ ही साथ ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं पुस्तकों का भी यथावसर उल्लेख कर दिया गया है।

उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के स्तर का ध्यान रखते हुए इस संकलन को परिश्रम-पूर्वक प्रस्तुत करने की चेष्टा मैंने की है। अन्त में पाठों के चयन में अपने प्रिय सहयोगी प्रो० श्रीपाल सिह 'क्षेम' के सुझावों का आभार मानते हुए मैं अपने परिश्रम को आपके ही हाथों में रखे दे रहा हूँ।

**शिवनारायण श्रीवास्तव**

# पाठ-क्रम

# भूमिका

## गद्य का महत्त्व

मानव-भावनाओं तथा विचारों की संचित निधि को साहित्य कहते हैं। यह साहित्य पद्य तथा गद्य दो रूपों में मिलता है। पद्य छन्द-बन्धन अर्थात् तुक, ताल और लय को स्वीकार करके चलता है। गद्य इन बन्धनों से स्वतन्त्र होता है। संसार का प्राचीनतम साहित्य पद्य में ही प्राप्त है। इसका कारण संभवतः यह है कि पद्य को कंठाग्र करना सुगम होता है। मुद्रण-कला के आविर्भाव के पूर्व साहित्य-रक्षा के लिए श्रुति और स्मृति की ही परम्परा थी। संस्कृत भारती में ज्योतिष, गणित, वैद्यक जैसे शुद्ध ज्ञान के विषय भी पद्य-बद्ध कर डाले गए थे। हमारी हिन्दी को वही परम्परा मिली और अपने जन्म-काल से लेकर सन् १८०० ई० तक हिन्दी साहित्य पद्य-प्रधान ही रहा।

किन्तु पद्य में वाणी अपना काम खुलकर नहीं कर पाती, वह बँधी रहती है। यही कारण है कि मानव के सूक्ष्मतम भाव-स्पंदनों का अंकन तथा उसकी बहुविध समस्याओं का यथार्थ विवेचन और विश्लेषण पद्य में पूर्ण रूपेण संभव नहीं। ज्ञान-विज्ञान के अभूतपूर्व विकास न मनुष्य के विचारक्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है। जीवन में अनेक ऐसे तत्त्वों का प्रवेश हो गया है जिनकी अभिव्यक्ति गद्य में ही सुगम है। अतएव आधुनिक युग में गद्य की प्रधानता हो गई है। मुद्रण-कला के विकास ने भी गद्य-प्रचार को सहायता दी। एक प्रकार से वर्त्तमान युग गद्य का ही है। हिन्दी गद्य ने भी अभूतपूर्व उन्नति कर ली है। भाषा में दिनोदिन अधिक व्यंजकता आती जा रही है तथा शैली में विविधता के दर्शन हो रहे हैं।

# हिन्दी-गद्य का इतिहास

**व्रजभाषा गद्य :**

हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रायः सात सौ वर्षों तक पद्य की ही प्रधानता रही। गद्य का कोई सर्वमान्य स्वरूप निश्चित नहीं था अतएव गद्य-साहित्य की ओर लेखकों का ध्यान ही न गया। व्रजभाषा गद्य के जो पुराने नमूने मिलते हैं वे अधिकतर सिद्धों की 'वानियों' में या वैष्णवों की 'वार्ता' में। गोरखनाथ सबसे प्राचीन गद्य-लेखक कहे जाते हैं। सन् १३५० के आस-पास लिखे हुए कुछ गोरख-पंथी गद्य-ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें डिंगल-मिश्रित व्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। सोलहवीं शताब्दी में कृष्णभक्त महात्माओं द्वारा व्रजभाषा गद्य में कुछ रचनाएँ हुईं जिनमें गोकुलनाथजी की "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' उल्लेखनीय हैं। इन दोनों ग्रन्थों में व्रजभाषा गद्य का बड़ा प्रौढ़ रूप मिलता है। आगे चलकर सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में कुछ काव्यग्रन्थों की टीकाएँ व्रजभाषा गद्य में लिखी गईं किन्तु इनकी भाषा बड़ी ही अनगढ़ एवं अव्यवस्थित है।

**खड़ी बोली गद्य का आविर्भाव तथा विकास**

दिल्ली और मेरठ के आस-पास बोली जानेवाली खड़ी बोली ही विकसित होकर आज हिन्दी गद्य की सर्वमान्य भाषा हो गई है। आरम्भ में खड़ी बोली-प्रदेश ही मुसलमान विजेताओं की शक्ति का केन्द्र था। उनके संसर्ग से खड़ी बोली में अरबी-फारसी और तुर्की के शब्द मिलते गए और यही मिश्रित रूप सामान्य व्यवहार की भाषा बनती गई। मुसलमानों ने इसे 'हिन्दवी' की संज्ञा दी और सूफी संतों तथा पीरों द्वारा 'हिन्दवी' में कुछ गद्य-रचना हुई। मुसलमानों की विजय के साथ साथ यह भाषा भी फैलती गई और सारे उत्तर भारत में इसका प्रयोग होने लगा। अंग्रेजों द्वारा मुसलमानों की पराजय के उपरान्त दिल्ली, आगरा, लखनऊ आदि नगरों के हिन्दू व्यवसायी पूरब की ओर गए और साथ में अपनी भाषा भी लेते गए। जनता की इस भाषा का परिचय प्राप्त करने के लिए

अंग्रेज अधिकारियों ने 'फोर्ट विलियम' कालेज में उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी के पठन-पाठन की व्यवस्था भी की।

हिन्दी-खड़ी वोली गद्य का वास्तविक सूत्रपात सन् १७४१ ई० से समझना चाहिए जब कि श्री रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योगवासिष्ठ' नामक गद्यग्रन्थ बहुत ही साफ-सुथरी खड़ी वोली में लिखा। इसके उपरान्त सन् १७६६ ई० में पं० दौलतराम ने 'पद्म-पुराण' का खड़ी वोली गद्य में अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त खड़ी वोली गद्य की परम्परा चलानेवाले चार महानुभाव हुए। ये थे—मुंशी सदासुखलाल, इंशा-अल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। अन्तिम दो लेखकों को ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा फोर्ट विलियम में अंग्रेजों से मिली। ये चारों लेखक सन् १८०० ई० के आसपास हुए।

सदासुखलाल 'नियाज़' ने 'सुखसागर' के नाम से खड़ी वोली में श्रीमद्भागवत का अनुवाद किया। यद्यपि मुंशीजी दिल्ली के रहनेवाले थे किन्तु उन्होंने सुखसागर में ऐसी भाषा का व्यवहार किया जिसे काशी, प्रयाग आदि पूर्वी प्रदेशों के संस्कृतज्ञ पंडित वोलते हैं।

इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जिसमें उनका उद्देश्य था कि "कोई कहानी ऐसी कहिए जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तव जाके मेरा जी फूल की कली रूप खिले।" इंशा की भाषा वड़ी चटकीली, मटकीली और मुहाविरेदार है। वाक्यों की वनावट फारसी ढंग की है। तुक भिड़ाने की धुन सी दिखाई देती है। गम्भीर विषयों के विवेचन के लिए यह भाषा उपयुक्त नहीं है।

लल्लूलाल ने गद्य में 'प्रेमसागर' की रचना की जिसमें श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की कथा वर्णित है। इनकी भाषा व्रजरंजित खड़ी वोली है। शैली कथावाचकों की सी है।

सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। इसकी भाषा में पूर्वीपन बहुत अधिक है। 'जो' के स्थान पर 'जौन', 'माँ' के स्थान पर 'महतारी' जैसे प्रयोग बहुत मिलते हैं।

इस प्रकार इन आरम्भिक लेखकों द्वारा गद्य की परम्परा चल जाने पर अन्यान्य लेखक क्षेत्र में आते गए और गद्य का विकास होता गया। हिन्दी गद्य के प्रचार में ईसाई मिशनरियों ने अनजान में ही बड़ा योग दिया। बाइबिल तथा अन्य ईसाई धर्मग्रन्थों के अनुवाद हिन्दी में बहुत बड़ी संख्या में निकले और जनता में बहुत बड़ी संख्या में वितरित किए गए। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा भी हिन्दी गद्य के विकास में बड़ी सहायता मिली। स्वामीजी ने अपने ग्रंथों की रचना हिन्दी में ही की। उनके 'सत्यार्थप्रकाश' तथा 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका' की भाषा गुजराती से प्रभावित होते हुए भी बड़ी परिमार्जित है।

हिन्दी गद्य के उन्नायकों में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' तथा राजा लक्ष्मण सिंह भी स्मरणीय रहेंगे। सन् १८५६ में राजा शिवप्रसाद शिक्षा विभाग में इन्स्पेक्टर नियुक्त हुए। स्कूलों के लिए उन्होंने स्वयं भी अनेक पुस्तकें लिखीं तथा अन्य लोगों से भी लिखवाईं। राजा लक्ष्मण सिंह ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' (सन् १८६२ ई०) तथा 'रघुवंश' के हिन्दी में अनुवाद किए। राजा शिवप्रसाद शुद्ध हिन्दी लिख सकते थे किन्तु उन्होंने अपनी पुस्तकों में अधिकतर अरबी-फारसी के शब्दों की बहुलता रखी। इसके विपरीत राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है।

सन् १८६८ ई० के आसपास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र साहित्य-क्षेत्र में आए। भारतेन्दु एवं उनके सहयोगी नक्षत्रों के उदय होते ही हिन्दी गद्य अधिकाधिक प्रकाशित हो उठा। भाषा के सम्बन्ध में भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। उन्होंने न तो उसे उर्दूमय बनाया और न संस्कृत-गर्भित ही रखा। अपनी निजी विशेषताओं के साथ हिन्दी गद्य का शिष्ट सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। भारतेन्दु के समय में हिन्दी लेखकों का एक मण्डल सा बन गया था जिसमें मुख्य थे—बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बदरी-नारायण चौधरी, लाला श्रीनिवासदास तथा अम्बिकादत्त व्यास। इन

सभी लेखकों में बड़ी सजीवता थी। उनके लेखों में व्यंग-विनोद एवं हास्य का पुट सदैव रहा करता था।

भारतेन्दु ने एक ऐसी चेतना फूंक दी थी कि हिन्दी गद्य अपने सम्पूर्ण प्राणवेग से अग्रसर हो उठा। हिन्दी-प्रचार की एक लहर सी आ गई। नाटक, उपन्यास एवं मनोरंजक लेखों के द्वारा जनता हिन्दी की ओर आकृष्ट हुई। राष्ट्रीय जागृति ने गद्य साहित्य के विकास को सहायता पहुँचाई और यह तथ्य हृदयंगम कर लिया गया कि 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।' परिणाम-स्वरूप नगर नगर में हिन्दी-प्रचार के लिए सभाएँ और समितियाँ स्थापित हुईं। काशी में बाबू श्यामसुन्दरदास एवं उनके मित्रों ने सन् १८९३ ई० में नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना की जिसके द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार, प्रसार एवं संवर्धन में अमूल्य सहायता मिली।

निर्माण और प्रचार के आरम्भिक उत्साह में लेखकों का ध्यान भाषा की शुद्धता की ओर अधिक नहीं गया। बहुत दिनों तक व्याकरण की शिथिलता और भाषा की रूपहानि साथ साथ दिखाई पड़ती रही। सन् १९०३ ई० में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक नियुक्त हुए। सम्पादक रूप में उन्होंने आए हुए लेखों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया। इस प्रकार व्याकरण-सम्मत शुद्ध हिन्दी गद्य का प्रादुर्भाव हुआ।

### गद्य साहित्य की प्रगति

यद्यपि हिन्दी गद्य का इतिहास केवल डेढ़ सौ वर्षों का ही है किन्तु इस अवधि में ही गद्य के प्रायः सभी रूप हिन्दी में देखे जा सकते हैं। नाटक, उपन्यास, कहानी, गद्यकाव्य, संस्मरण, निबन्ध, आलोचना आदि सभी रूपों का हिन्दी में वांछित विकास हुआ है। हम संक्षेप में अपने गद्य-साहित्य की प्रगति पर विचार करेंगे।

**नाटक** :—नाटकों का वास्तविक आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही समझना चाहिए। उनके पूर्व भी दो-चार नाटक लिखे गए थे, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनका अधिक महत्त्व नहीं है। भारतेन्दु ने बँगला तथा संस्कृत नाटकों के कई अनुवाद किए तथा कुछ मौलिक नाटक भी लिखे। मौलिक नाटकों में 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'चन्द्रावली', 'अन्धेरनगरी', 'प्रेमजोगिनी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि प्रधान हैं। अपने नाटकों में भारतेन्दु ने जीवन के कई क्षेत्रों से सामग्री ली है। शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। भारतीय नाटक-शैली की विशेषताओं की रक्षा करते हुए भी अंग्रेजी नाटकों की कुछ वातों का ग्रहण किया। भारतेन्दु-मण्डल के अन्य लेखकों द्वारा भी नाटक की रचना हुई। आगे चलकर पं० किशोरीलाल गोस्वामी, पं० अयोध्या-सिंह उपाध्याय, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण ने भी कुछ नाटक लिखे किन्तु अभिनेयता का इनमें प्रायः अभाव सा ही रहा।

हिन्दी में उच्च कोटि के नाटकों का सूत्रपात श्री जयशंकर प्रसाद के द्वारा हुआ। प्रसादजी ने 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त,' 'स्कन्दगुप्त,' 'ध्रुव-स्वामिनी' तथा 'राज्यश्री' आदि ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। श्री हरीकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटक भी उच्च कोटि के हैं। इनमें 'रक्षा-वन्धन' वहुत ही सुन्दर है। पंडित गोविन्दवल्लभ पंत का 'वरमाला' नामक नाटक भी सरस तथा अभिनेय है। इन तीनों ही लेखकों ने यद्यपि संस्कृत नाटक-परम्परा की वहुत सी वातें—जैसे प्रस्तावना, नान्दीपाठ, स्वगत कथन, आकाशभाषित आदि—जो इस यथार्थता के युग में कृत्रिम लगती हैं हटा दी हैं फिर भी उनमें रसात्मकता वनी हुई है। सेठ गोविन्द-दास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथप्रसाद मिलिंद, वृन्दावनलाल वर्मा आदि इस युग के श्रेष्ठ नाटककार हैं जो वरावर रचना करते जा रहे हैं। इन नाटकों का ढाँचा अधिकतर पाश्चात्य नाटकों का सा होता जा रहा है। इधर कुछ वर्षों से एकांकी नाटकों का भी प्रचलन वढ़ गया है। एकांकी नाटककारों में रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास,

उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा आदि विशेष उल्लेख-नीय हैं।

उपन्यास :—उपन्यास का आरम्भ भी भारतेन्दु-युग में ही लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' से हो गया था। किन्तु उस युग के अधिकांश उपन्यास नीति-उपदेश के ही उद्देश्य से लिखे गए जिनका साहित्यिक मूल्य अत्यल्प है। आगे चलकर देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी तथा गोपालराम गहमरी अपने तिलस्मी, ऐयारी तथा जासूसी उपन्यासों को लेकर साहित्य-क्षेत्र में आए। ये उपन्यास घटना-प्रधान हैं जिनसे केवल कुतूहलवृत्ति की ही तृप्ति होती है। इनमें देवकीनन्दन खत्री लिखित 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता-संतति' की कुछ दिनों तक बड़ी धूम रही।

हिन्दी में चरित्रप्रधान उपन्यासों का सूत्रपात श्री प्रेमचन्द के द्वारा हुआ। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन' तथा 'गोदान' प्रेमचन्द के उत्कृष्ट उपन्यास हैं। इनमें भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं का जीता-जागता चित्रण मिलता है। प्रसाद के 'तितली' और 'कंकाल' नामक उपन्यास भी उच्च कोटि के हैं। वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़-कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'मृगनयनी' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों ने पर्याप्त ख्याति पाई है। कौशिक, उग्र, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ अश्क, इलाचन्द्र जोशी आदि के द्वारा भी उच्चकोटि के उपन्यासों का प्रणयन हुआ है। इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रतिभावान् लेखक हमारे उपन्यास-भाण्डार को विविध रत्नों से भरते जा रहे हैं। उपन्यास के क्षेत्र में हमने अनेक प्रयोग किए हैं और हमारे साहित्य का यह अंग अत्यधिक समृद्ध है।

छोटी कहानी :—उपन्यासों से भी अधिक कहानियाँ लिखी गई। उपर्युक्त उपन्यासकार कहानीकार भी हैं। प्रेमचन्द ने सैकड़ों कहानियाँ लिखीं जो 'मानसरोवर' के कई भागों में संगृहीत हैं। प्रसाद के कहानी-

संग्रह—'आकाश-दीप', 'आँधी', 'इन्द्रजाल' नाम से प्रकाशित हुए हैं। चरित्रचित्रण की दृष्टि से कौशिक और सुदर्शन का भी विशेष स्थान है। इधर के प्रायः सभी उपन्यासकारों के कहानी-संग्रह भी निकल चुके हैं। सम्प्रति कहानियों की ही धूम है। 'माया', 'मनोहर कहानियाँ' आदि कई पत्रिकाएँ केवल कहानियाँ ही छापती हैं। इन कहानियों में भारतीय जीवन के अनेक पक्षों का मार्मिक चित्रण होता है। उपन्यास और कहानी दोनों में ही मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण आजकल विशेष रूप से किया जाने लगा है।

**निवन्ध** :—निवन्धों का सूत्रपात भारतेन्दु के समय में ही हुआ। स्वयं भारतेन्दु और उनके मण्डल के अन्य लेखकों—वालकृष्ण भट्ट, प्रताप-नारायण मिश्र, वालमुकुन्द गुप्त आदि—ने पत्र-पत्रिकाओं में विविध विषयों पर निवन्ध लिखे। निवन्ध लिखने का जो उत्साह उस युग के लेखकों में देखा गया वह वाद में दुर्लभ ही हो गया। यद्यपि उन निवन्धों में विषय का गम्भीर विवेचन नहीं मिलता फिर भी उनमें जो सजीवता, चटपटापन तथा व्यंग-विनोद का पुट है वह उसी युग की विशेषता है।

'सरस्वती' के सम्पादन-काल में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी विविध विषयों पर वरावर लेख लिखते रहे। यद्यपि उनके लेख विचारात्मक श्रेणी में आएँगे किन्तु उनमें गंभीर विवेचन का अभाव है। द्विवेदीजी के समकालीनों में पं० माधवप्रसाद मिश्र, वावू गोपालराम गहमरी, वावू वालमुकुन्द गुप्त तथा पं० गोविन्दनारायण मिश्र भी अच्छे निवन्ध-लेखक थे।

इनके उपरान्त इस क्षेत्र में वावू श्यामसुन्दरदास, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्ण सिंह, पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा वावू गुलावराय आदि आते हैं। इनमें उच्च कोटि के विचा-रात्मक निवन्धों की रचना शुक्लजी के द्वारा हुई।

**गद्यकाव्य** :—गद्य के माध्यम से अभिव्यक्त भावानुभूति गद्यकाव्य है। भावातिरेक के कारण गद्यकाव्य में वाणी वड़ी तरल, सुकोमल एवं सरस हो जाती है। हिन्दी गद्यकाव्य के लेखकों में राय कृष्णदास

तथा वियोगी हरि ने अधिक ख्याति पाई है। वियोगी हरि के गद्यगीतों में भावावेश का आधिक्य परिलक्षित होता है। राय कृष्णदास ने गीतांजलि के ढंग पर अज्ञात के प्रति भावांजलि समर्पित की है। रूपक और अन्योक्तियों का दोनों ही ने सहारा लिया है। चतुरसेन शास्त्री के गद्य-गीत भी सरस हैं। दिनेशनन्दिनी डालमियाँ के 'मौक्तिकमाल' में गद्य-काव्य का सुन्दर स्वरूप देखने को मिलता है। इस पर उन्हें सेक्सरिया पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। एक दूसरा संग्रह भी 'उन्मन' नाम से निकल चुका है। हिन्दी में गद्यकाव्य लिखनेवाले और भी कई व्यक्ति हैं।

समालोचना :—समालोचना सिद्धान्तों की परम्परा हिन्दी को संस्कृत से मिली थी। संस्कृत का ही अनुगमन कर हिन्दी में भी रस, रीति, अलंकार, ध्वनि आदि पर अनेक लक्षणग्रन्थ लिखे गए। रीतिकाल में तो कवि और आचार्य में अन्तर ही नहीं रह गया था और कविता-रचना अधिकतर रस, अलंकार आदि के उदाहरण के रूप में होती थी। कवि अथवा काव्य की आलोचना—'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास' जैसे सूत्रात्मक वाक्यों तक ही सीमित थी। गद्य के अभाव में गुण-दोषों का सम्यक् विवेचन सम्भव भी नहीं था।

गद्य का प्रवर्त्तन हो जाने पर भारतेन्दु के समय में आलोचना का भी सूत्रपात हुआ। इसका विकास द्विवेदी जी के समय में हुआ। मिश्र-बन्धुओं ने 'हिन्दी-नवरत्न' की रचना की जिसमें नव कवियों की समीक्षा है। इसमें श्रेष्ठता का क्रम भी निश्चित कर दिया गया है। विहारी से बड़े देव सिद्ध किए गए हैं। इसी से प्रेरणा पाकर श्री पद्मसिंह शर्मा ने विहारी पर तुलनात्मक आलोचना लिखी। लाला भगवानदीन ने भी कुछ कवियों की आलोचना की। साहित्य के सिद्धान्तों पर बाबू श्याम-सुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' नामक ग्रन्थ लिखा।

हिन्दी में आधुनिक ढंग की व्याख्यात्मक आलोचना का आरम्भ पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किया। उन्होंने तुलसी, सूर एवं जायसी की विस्तार से आलोचना की। इनमें काव्य को प्रेरणा देनेवाली परिस्थिति

से आरम्भ करके, कथावस्तु, शीलवैचित्र्य, रस-अलंकार आदि सभी बातों की छानबीन की गई है और काव्य का वास्तविक मूल्यांकन किया गया है। हिन्दी साहित्य का एक बृहत् आलोचनात्मक इतिहास लिखने के अतिरिक्त शुक्लजी ने 'काव्य में रहस्यवाद', 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नामक दो बड़े ही विचारपूर्ण प्रबन्ध लिखे। व्याख्यात्मक शैली पर ही बाबू श्यामसुन्दरदास ने तुलसी, कबीर आदि कुछ कवियों की आलोचना की। गुलाबराय भी अच्छे आलोचक हैं। उन्होंने समीक्षा-सिद्धान्त पर कई ग्रंथ लिखे हैं। इस युग के आलोचकों में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि प्रमुख हैं। बहुत से नवीन आलोचक साहित्य-क्षेत्र में आ गए हैं और विभिन्न साहित्यकारों पर धड़ाधड़ आलोचना-ग्रन्थ निकल रहे हैं।

**जीवनी, आत्मकथा तथा संस्मरण :**—हिन्दी में जीवनी लिखने की परम्परा बहुत पुरानी है। व्रजभाषाकाल में गोस्वामी गोकुलनाथजी ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' लिखी। नाभाजी का 'भक्तमाल' भी उल्लेखनीय है। खड़ी बोली गद्य में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा लिखित पं० सत्यनारायण कविरत्न का जीवन-चरित्र तथा ब्रजरत्नदास की लिखी हुई भारतेन्दु की जीवनी महत्त्वपूर्ण हैं। आत्मकथा लिखनेवालों में डा० श्यामसुन्दरदास, वियोगी हरि, स्वामी श्रद्धानन्द, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, श्री भवानीदयाल संन्यासी आदि प्रमुख हैं। 'मेरी असफलताएँ' नामक पुस्तक में बाबू गुलाबराय ने विनोदपूर्ण शैली में अपनी आत्मकथा लिखी है। महादेवी वर्मा के संस्मरण 'अतीत के चल-चित्र' एवं 'स्मृति की रेखाएँ' में मिलते हैं। राजकुमार रघुराजसिंह की 'शेष स्मृतियाँ' संस्मरण तथा गद्यकाव्य के बीच की चीज है।

**अन्य विषय :**—काव्य के अतिरिक्त इधर हिन्दी में ज्ञान के साहित्य की अत्यधिक वृद्धि हुई है। धर्म, दर्शन, विज्ञान, राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, इतिहास आदि की पुस्तकें बराबर निकलती रही हैं। गौरी-

शंकर हीराचन्द ओझा का 'राजपूताने का इतिहास', जयचन्द्र विद्यालंकार का 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा', सम्पूर्णानन्द का 'आर्यों का आदि-देश' तथा 'समाजवाद', भगवानदास केला का 'अर्थशास्त्र', गंगाप्रसाद उपाध्याय का 'आस्तिकवाद' तथा 'अद्वैतवाद', वलदेव उपाध्याय का 'भारतीय दर्शन', डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा की 'हमारे शरीर की रचना', गोरखप्रसाद की 'फोटोग्राफी' तथा 'सौर परिवार', रामदास गौड़ की 'विज्ञान-हस्तामलक' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कला तथा भाषाविज्ञान की पुस्तकें भी लिखी गई हैं। कई प्रामाणिक कोष भी तैयार हो चुके हैं।

**उपसंहार** :—अपने जीवन के डेढ़ सौ वर्षों में खड़ी वोली गद्य ने आशा-तीत प्रगति की है। भाषा में व्यंजकता आई है तथा नवीन शैलियों का निर्माण हुआ है। स्वतन्त्र भारत ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा-पद पर प्रतिष्ठित किया है। अतएव इसका दायित्व वहुत वढ़ गया है। सभी विषयों की पुस्तकों की माँग वढ़ गई है और उनकी पूर्ति के प्रयत्न भी हो रहे हैं। वर्त्तमान स्थिति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि हिन्दी गद्य कुछ ही वर्षों में राष्ट्र की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम हो जायगा।

## गद्य-शैली

वर्णन-रीति को शैली कहते हैं। शैली में ही साहित्य की साहित्यिकता है। लेखक की प्रकृति, उसकी भाव, विचार एवं कल्पना-धारा, उसकी शिक्षा-संस्कृति आदि अनेक बातों के प्रभाव से शैली का रूप स्थिर होता है। इसीलिए कहा गया है कि शैली ही लेखक की परिचायिका है। उत्कृष्ट साहित्यकारों का व्यक्तित्व शैली में प्रतिविम्बित हो उठता है। हम लेख को देखते ही लेखक को वता दे सकते हैं। जहाँ पर शैली में शैलीकार को उद्घोषित कर देने की शक्ति हो वहीं उसकी पूर्णता है। हिन्दी में प्रतापनारायण मिश्र, वालकृष्ण भट्ट, वालमुकुन्द गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, प्रसाद, महादेवी आदि की शैली पर पूरी पूरी तरह उनके

व्यक्तित्व की छाप होती है। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य, बोलता सा होता है।

किसी लेखक की शैली का निरूपण करते समय हम निम्नांकित बातों की परख करते हैं :—

**शब्द** :—सर्वप्रथम हमें लेखक द्वारा व्यवहृत शब्द-समूह पर विचार करना चाहिए। हिन्दी-लेखकों द्वारा देशी और विदेशी सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें कुछ तो शुद्ध संस्कृत के शब्द हैं जिन्हें 'तत्सम' कहते हैं, कुछ संस्कृत से निकले हुए शब्द हैं जिन्हें तद्‌भव कहते हैं और कुछ देशज शब्द हैं, जो स्थान-विशेष पर बोले जाते हैं। उदाहरण के लिए 'प्रिय' तत्सम शब्द है, 'प्यारा' या 'पियारा' तद्‌भव है तथा 'अलक-लड़ैता' (लाड़ला) देशज शब्द है। इनके अतिरिक्त उर्दू, फारसी और अंग्रेजी आदि के भी शब्द प्रचलित हैं। अतएव हमें देखना चाहिए कि लेखक ने किन किन प्रकार के शब्दों का अपनी भाषा में उपयोग किया है और इनके द्वारा वह अपने भावों या विचारों को पूरी तरह प्रकट करने में सफल हो सका है या नहीं। हिन्दी के आरम्भिक लेखकों में सभी प्रकार के शब्दों के ग्रहण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। आचार्य शुक्ल ने आलोचना के लिए संस्कृतनिष्ठ भाषा को चुना, प्रेमचन्द में बोलचाल की उर्दू-हिन्दी-मिश्रित भाषा मिलती है। प्रसाद, महादेवी आदि ने संस्कृत की कोमलकान्त पदावली का व्यवहार किया। बाबू श्यामसुन्दरदास 'फ़ारसी' को 'फारसी' बना आत्मसात् कर लेने के पक्ष में थे।

**वाक्य** :—वाक्य-रचना पर भी बहुत कुछ शैली का सौन्दर्य निर्भर रहता है। कुछ वाक्य छोटे छोटे होते हैं, कुछ बड़े बड़े; कुछ वाक्य शिथिल होते हैं, कुछ सुगठित; व्याकरण की दृष्टि से कुछ सदोष होते हैं और कुछ निर्दोष। छोटे-बड़े वाक्यों की रचना तो विषय, उसके प्रतिपादन की पद्धति तथा लेखक की प्रकृति पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। छोटे वाक्यों में अपेक्षाकृत स्पष्टता अधिक होती है। कहीं कहीं एक बड़े वाक्य-समूह में एक ही आकार-प्रकार के छोटे छोटे कई अन्तर्वाक्य रहते हैं। इनसे

शैली में ओज आ जाता है। उच्च कोटि के विचार-प्रधान लेखकों के वाक्य ऐसे सुगठित होते हैं कि उनमें कोई शिथिलता या लचरपन नहीं दिखाई देता। प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर उचित रीति से जड़ा हुआ होता है, एक के भी हेर-फेर करने की गुंजाइश नहीं रहती। वाक्य में अर्थपरम्परा कसी रहती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री सम्पूर्णानन्द, आदि लेखकों के वाक्य बड़े ही सुगठित होते हैं। व्याकरण सम्बन्धी दोष अधिकतर विभक्तियों के प्रयोग तथा लिंग-व्यवस्था में होता है। प्रतापनारायण मिश्र जैसे कुछ पुराने लेखकों में पूर्वी प्रयोग के कारण भी वाक्य सदोष हो गए हैं।

**लोकोक्तियाँ, कहावतें तथा मुहावरे**:—प्रत्येक देश की सामान्य जनता के बीच अनेक प्रकार की कहावतें तथा प्रत्येक भाषा में अनेक मुहावरे प्रचलित रहते हैं। दीर्घकालीन प्रयोग से उनके साथ कुछ विशेष अर्थों का अभिन्न लगाव लग जाता है। इनके प्रयोग से लेखक की शैली को व्यावहारिकता प्राप्त हो जाती है। वह अपने विचारों को सुगमता-पूर्वक समझा सकता है। किन्तु गम्भीर विषयों के विवेचन में, जहाँ विचार की प्रधानता रहती है तथा लेखक थोड़े से थोड़े में अधिक से अधिक कहना चाहता है वहाँ कहावतों आदि के प्रयोग का अवकाश नहीं रहता। इनका प्रयोग अधिकतर विषय तथा लेखक की मनस्थिति पर निर्भर रहता है। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि लेखक मुहावरों की झड़ी लगा देते थे जिनका अतिरेक कहीं कहीं अरुचिकर भी हो उठता था। राय कृष्णदास, वियोगी हरि आदि ने भाषा को आत्मीयता देने के लिए स्थान स्थान पर मुहावरों का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है। जहाँ मुहावरे आप से आप भाषा में आ जाते हैं वहाँ वे शैली की सुन्दरता को बढ़ाते हैं किन्तु जहाँ ढूँढ़-ढूँढ़कर बैठाए जाते हैं वहाँ पाठक का जी ऊब उठता है।

**अलंकार**:—गद्य में अलंकारों का प्रयोग उस रूप में न होना चाहिए जिस रूप में पद्य में होता है। वर्णनात्मक गद्य में जहाँ पर चित्र उपस्थित करना लेखक का ध्येय होता है वहाँ तो अलंकारों का प्रयोग ठीक कहा

जा सकता है। इसी प्रकार भावात्मक गद्य में भी अलंकार की आवश्यकता हो सकती है किन्तु गवेषणात्मक चिन्तन के लिए अलंकृत भाषा साधक न सिद्ध होकर वाधक ही सिद्ध होती है। वर्णनात्मक निबन्धों या कहानी उपन्यासों में इसके प्रयोग से चित्रात्मकता आ जाती है तथा प्रभावात्मकता में वृद्धि हो जाती है।

अलंकार के अंतर्गत ही लाक्षणिक भाषा का प्रयोग भी लिया जा सकता है। इन प्रयोगों से सूक्ष्म भावनाओं को भी मूर्तिमत्ता मिल जाती है।

**व्यंग-विनोद** :—साहित्यिक व्यंग का उद्देश्य किसी न किसी प्रकार का सुधार होता है। संयत, शिष्ट और मार्मिक व्यंग के लिए बड़ी सहृदयता एवं वाक्चातुरी की आवश्यकता होती है। व्यंग ऐसा नहीं होना चाहिए जैसे चिढ़कर बच्चे ने दाँत काट लिया हो। उसे तो ऐसा होना चाहिए कि उसका लक्ष्य भी उससे थोड़ी देर आनन्द ले सके। गम्भीर विचारात्मक निवन्धों के वीच में कहीं कहीं व्यंग-विनोद का वड़ा अनुरंजनकारी प्रभाव पड़ता है। शुक्लजी का व्यंग ऐसा ही हुआ करता था। हिन्दी निवन्ध लेखकों में श्री वालमुकुन्द गुप्त व्यंग-विनोद में वड़े सिद्धहस्त थे।

**शैली के भेद** :—यदि विचार किया जाय तो व्यक्तिगत विभिन्नता के समान ही शैली में भी विभिन्नता होती है। जितने लेखक होते हैं उतने ही प्रकार की शैली भी होती है किन्तु सुविधा के विचार से कुछ तथ्यों की समानता के आधार पर—विचारात्मक, भावात्मक एवं विवरणात्मक—शैली के ये तीन भेद किए जाते हैं। विचारात्मक शैली में तथ्य-कथन अधिक होता है। उसमें विवेचन, तर्क-वितर्क तथा विश्लेषण की प्रधानता होती है। तदनुकूल भाषा भी गंभीर होती है। पारिभाषिक एवं तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। मुहावरे आदि कम रहते हैं। हास्य-व्यंग का भी अवकाश नहीं सा रहता। किन्तु भावात्मक शैली में सरस पद-योजना, रमणीय कल्पना एवं अलंकार आदि की प्रधानता होती है। विवरणात्मक शैली को ही परिचयात्मक शैली भी कह सकते हैं। यह

साधारण विषयों के विवरण में प्रयुक्त होती है। इसकी भाषा व्याव-हारिक एवं शब्द-योजना सरल होती है।

**शैली के गुण** :—शैली के प्रधान गुण हैं—(१) सरलता, (२) स्पष्टता, (३) स्वच्छता, (४) प्रभावोत्पादकता तथा (५) शिष्टता।

शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें लेखक के व्यक्तित्व की छाप हो।

# बालकृष्ण भट्ट

(१८४४–१९१४ ई०)

प्रयाग निवासी भट्टजी भारतेन्दु-मण्डल के प्रमुख लेखकों में से थे। आप हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी एवं अंग्रेजी के ज्ञाता थे। कुछ दिनों तक प्रयाग में ही अध्यापन करने के उपरान्त भट्टजी साहित्य-क्षेत्र में आए और प्रयाग से ही 'हिन्दी-वर्धिनी' सभा के तत्त्वावधान में 'हिन्दी-प्रदीप' नामक एक पत्र निकाला जो प्रायः वत्तीस वर्षों तक हिन्दी-जगत् को ज्योति देता रहा। आप उपन्यासकार, नाटककार एवं निवन्धकार थे। आपके उपन्यास एवं नाटक अधिकतर समाज-सुधार की दृष्टि से लिखे गए हैं। आपके निवन्धों का संग्रह 'साहित्य-सुमन' नाम से प्रकाशित है। 'सौ अजान एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' ये दो उपन्यास हैं। 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'वाल-विवाह' तीन नाटक हैं।

'हिन्दी-प्रदीप' में भट्टजी के विविध विषयों पर लेख निकलते रहे। जीवन और जागृति के उस युग में प्रायः सभी लेखकों की लेखनी से सजीवता टपकती थी। प्रतापनारायण मिश्र तथा बालकृष्ण भट्ट में यह ज़िन्दादिली विशेष रूप में थी। दोनों ही ने 'आँख', 'कान', 'नाक', 'वात' जैसे सामान्य विषयों पर विनोदपूर्ण ढंग से लेख लिखे। इनके अतिरिक्त कुछ गंभीर विषयों पर भी भट्टजी के निवन्ध मिलते हैं। किन्तु वर्णन-प्रणाली अधिकतर व्यंग-विनोदपूर्ण है। भट्टजी की शैली मिश्रजी की अपेक्षा अधिक शिष्ट, परिमार्जित और गंभीर है।

शब्द-चयन की दृष्टि से भट्टजी उदार मनोवृत्ति के कहे जायँगे। इन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है और उर्दू-फारसी के शब्दों का भी। वीच-वीच में अंग्रेजी के शब्द भी मिलते हैं। प्रस्तुत निवन्ध में 'कदर्य', 'ओज', 'सौजन्य' जैसे संस्कृत शब्दों के साथ ही साथ

'तरक्की', 'तनज्जुली', 'कौम', 'ग्रैण्ड टोटल' आदि शब्दों का बेधड़क प्रयोग किया गया है। भाषा में मुहावरों की भरमार रहती है। हास्य और व्यंग का पुट भी यथावसर मिलता है। शैली में लेखक के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है।

प्रस्तुत निबन्ध में भट्टजी ने एक रूखे विषय को अपूर्व सरसता और वेगपूर्ण रीति से लिखा है। स्वावलम्बन एक बहुत बड़ा गुण है। उन्नति का यही मूल मंत्र है। इस निबन्ध में भट्टजी ने इस तथ्य को बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से समझाने का प्रयत्न किया है।

———

# आत्मनिर्भरता

आत्मनिर्भरता ( अपने भरोसे पर रहना ) ऐसा श्रेष्ठ गुण है कि जिसके न होने से पुरुष में पौरुषेयत्व का अभाव कहना अनुचित नहीं मालूम होता। जिनको अपने भरोसे का बल है, वे जहाँ होंगे, जल में तूँबी के समान सबके ऊपर रहेंगे। ऐसों ही के चरित्र पर लक्ष्य कर महाकवि भारवि ने कहा है कि तेज और प्रताप से संसार-भर को अपने नीचे करते हुए ऊँची उमंगवाले दूसरे के द्वारा अपना वैभव नहीं बढ़ाना चाहते। शारीरिक बल, चतुरंगिणी सेना का बल, प्रभुता का बल, ऊँचे कुल में पैदा होने का बल, मित्रता का बल, मंत्र-तंत्र का बल इत्यादि जितने बल हैं, निज बाहु-बल के आगे सब क्षीणबल हैं, वरन् आत्मनिर्भरता की बुनियाद यानी यह बाहु-बल सब तरह के बल को सहारा देनेवाला और उभारनेवाला है।

योरप के देशों की जो इतनी उन्नति है, तथा अमेरिका, जापान आदि जो इस समय मनुष्य-जाति के सिरताज हो रहे हैं, इसका यही कारण है कि उन देशों में लोग अपने भरोसे पर रहना या कोई काम करना अच्छी तरह जानते हैं। हिन्दुस्तान का जो सत्यानाश है, इसका यही कारण है कि यहाँ के लोग अपने भरोसे पर रहना भूल ही गए। इसी से सेवकाई करना यहाँ के लोगों से जैसी ख़ूबसूरती के साथ बन पड़ता है, वैसा स्वामित्व नहीं। अपने भरोसे पर रहना जब हमारा गुण नहीं, तब क्योंकर संभव है कि हमारे में प्रभुत्व-शक्ति को अवकाश मिले।

निरी क़िस्मत और भाग्य पर वे ही लोग रहते हैं, जो आलसी हैं। किसी ने अच्छा कहा है—

"दैव-दैव आलसी पुकारा"।

ईश्वर भी सानुकूल और सहायक उन्हीं का होता है, जो अपनी सहायता अपने आप कर सकते हैं। अपने आप अपनी सहायता करने की वासना आदमी में सच्ची तरक्क़ी की बुनियाद है। अनेक सुप्रसिद्ध सत्पुरुषों की जीवनियाँ इसके उदाहरण तो हैं ही, वरन् प्रत्येक देश या जाति के लोगों में बल और ओज तथा गौरव और महत्त्व के आने का आत्मनिर्भरता सच्चा द्वार है। बहुधा देखने में आता है कि किसी काम के करने में बाहरी सहायता इतना लाभ नहीं पहुँचा सकती, जितनी आत्मनिर्भरता।

समाज के बंधन में भी देखिये, तो बहुत तरह के संशोधन सरकारी क़ानूनों के द्वारा वैसे नहीं हो सकते, जैसे समाज के एक-एक मनुष्य के अलग-अलग अपने संशोधन अपने आप करने से हो सकते हैं।

कड़े-से-कड़े क़ानून आलसी समाज को परिश्रमी, अपव्ययी या फ़िज़ूलख़र्च को किफ़ायतशार या परिमित व्यय-शील, शराबी को परहेज़-गार, क्रोधी को शांत या सहन-शील, सूम को उदार, लोभी को संतोषी, मूर्ख को विद्वान्, दर्पांध को नम्र, दुराचारी को सदाचारी, कदर्य को उन्नतमना, दरिद्र भिखारी को आढ्य, भीरु-डरपोक को वीर-धुरीण, झूठे गपोड़िये को सच्चा, चोर को सहनशील, व्यभिचारी को एक-पत्नी-व्रतधारी इत्यादि नहीं बना सकता; किन्तु ये सब बातें हम अपने ही प्रयत्न और चेष्टा से अपने में ला सकते हैं।

सच पूछो, तो जाति या क़ौम भी सुधरे हुए ऐसे ही एक-एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति का एक-एक आदमी यदि अलग-अलग अपने को सुधारे, तो जाति-की-जाति या समाज-का-समाज सुधर जाय।

सभ्यता और है क्या? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबाल, वृद्ध, वनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाए जायँ। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं, वही जाति अर्द्ध-शिक्षित कहलाती है। क़ौमी तरक्क़ी भी अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता-सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी तरह क़ौम की तनज़्ज़ुली क़ौम के

एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थ-परता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रैंड टोटल है। इन्हीं गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसे सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरापन।

जातीय गुणों या अवगुणों को गवर्नमेंट क़ानून के द्वारा रोक या जड़-पेड़ से नेस्तनाबूद नहीं कर सकती, वे किसी दूसरी शक्ल में न सिर्फ़ फिर से उभड़ आवेंगे वरन् पहले से ज़्यादा तरोताज़गी और सरसब्ज़ी की हालत में हो जायँगे। जब तक किसी जाति के हर एक व्यक्ति के चरित्र में आदि से मौलिक सुधार न किया जाय, तब तक अव्वल दर्जे का देशानुराग और सर्व-साधारण के हित की वांछा सिर्फ़ क़ानून के अदलने-बदलने से या नए क़ानून के जारी करने से नहीं पैदा हो सकती।

ज़ालिम-से-ज़ालिम बादशाह की हुकूमत में रहकर कोई क़ौम ग़ुलाम नहीं कही जा सकती, वरन् ग़ुलाम वही क़ौम है, जिसमें एक-एक व्यक्ति सब भाँति कदर्य, स्वार्थ-परायण और जातीयता के भाव से रहित है। ऐसी क़ौम जिसकी नस-नस में दास्य-भाव समाया हुआ है, कभी तरक़्क़ी नहीं करेगी, चाहे कैसे ही उदार शासन से वह शासित क्यों न की जाय, तो निश्चय हुआ कि देश की स्वतंत्रता की गहरी और मज़बूत नींव उस देश के एक-एक आदमी के आत्मनिर्भरता आदि गुणों पर स्थित है।

ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे की तालीम बिलकुल बेफ़ायदा है, यदि हम अपने ही सहारे अपनी बेहतरी न कर सकें। जॉन स्टुअर्ट मिल का सिद्धांत है कि—"राजा का भयानक-से-भयानक अत्याचार देश पर कभी कोई बुरा असर नहीं पैदा कर सकता, जब तक उस देश के एक-एक व्यक्ति में अपने सुधार की अटल वासना दृढ़ता के साथ बद्धमूल है!"

पुराने लोगों से जो चूक और ग़लती बन पड़ी है, उसी का नतीजा वर्तमान समय में हम लोग भुगत रहे हैं। उसी को चाहे जिस नाम से पुकारिये यथा जातीयता का भाव जाता रहा, एका नहीं है, आपस की

हमदर्दी नहीं है इत्यादि। तब पुराने क्रम को अच्छा मानना और उस पर श्रद्धा जमाए रखना हम क्योंकर अपने लिये उपकारी और उत्तम मानें। हम तो इसे निरी चंडूखाने की गप समझते हैं कि हमारा धर्म हमें आगे नहीं बढ़ने देता अथवा विदेशी राज से शासित हैं इसी से हम तरक्क़ी नहीं कर सकते।

वास्तव में सच पूछो तो आत्मनिर्भरता अर्थात् अपनी सहायता अपने आप करने का भाव हमारे बीच है ही नहीं। यह सब हमारी वर्तमान दुर्गति उसी का परिणाम है; बुद्धिमानों का अनुभव हमें यही कहता है कि मनुष्य में पूर्णता विद्या से नहीं वरन् काम से होती है। प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनियों के पढ़ने ही से नहीं, वरन् उन प्रसिद्ध पुरुषार्थी पुरुषों के चरित्रों का अनुकरण करने से मनुष्य में पूर्णता आती है।

योरप की सभ्यता, जो आज-कल हमारे लिये प्रत्येक उन्नति की बातों में उदाहरण-स्वरूप मानी जाती है, एक दिन या एक आदमी के काम का परिणाम नहीं है। जब कई पुश्त तक देश-का-देश, ऊँचे काम, ऊँचे खयाल और ऊँची वासनाओं की ओर प्रबल-चित्त रहा, तब वे इस अवस्था को पहुँचे हैं। वहाँ के हर एक फ़िरक़े,, जाति या वर्ण के लोग धैर्य के साथ धुन बाँध के बराबर अपनी-अपनी तरक्क़ी में लगे हैं। नीचे-से-नीचे दर्जे के मनुष्य—किसान, कुली, कारीगर आदि—और ऊँचे-से-ऊँचे दर्जेवाले—कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ सबों ने मिलकर क़ौमी तरक्क़ी को इस दर्जे तक पहुँचाया है। एक ने एक बात को आरंभ कर उसका ढाँचा खड़ा कर दिया, दूसरे ने उसी ढाँचे पर साबित क़दम रहकर एक दर्जा और बढ़ाया; इसी तरह क्रम-क्रम से कई पीढ़ी के उपरांत वह बात जिसका केवल ढाँचा-मात्र पड़ा था, पूर्णता और सिद्धि की अवस्था तक पहुँच गई।

ये अनेक शिल्प और विज्ञान, जिनकी दुनिया-भर में धूम मची है, इसी तरह शुरू किए गए थे और ढाँचा छोड़नेवाले पूर्व पुरुष अपनी

भाग्यवान् भावी संतान को उस शिल्प-कौशल और विज्ञान की बड़ी भारी मीरास या बपौती का उत्तराधिकारी बना गए थे।

आत्मनिर्भरता के संबंध में जो शिक्षा हमें खेतिहर, दूकानदार, बढ़ई, लोहार आदि कारीगरों से मिलती है, उसके मुक़ाबले में स्कूल और कालेजों की शिक्षा कुछ नहीं है; और यह शिक्षा हमें पुस्तकों या किताबों से नहीं मिलती, वरन् एक-एक मनुष्य के चरित्र, आत्म-दमन, दृढ़ता, धैर्य, परिश्रम, स्थिर अध्यवसाय पर दृष्टि रखने से मिलती है, इन सब गुणों से हमारे जीवन की सफलता है। ये गुण मनुष्य-जाति की उन्नति का छोर हैं और हमें जन्म में क्या करना चाहिये, इसका सारांश हैं।

बहुतेरे सत्पुरुषों के जीवन-चरित्र धर्म-ग्रंथों के समान हैं, जिनके पढ़ने से हमें कुछ न-कुछ उपदेश ज़रूर मिलता है। बड़प्पन किसी जाति-विशेष या ख़ास दर्जे के आदमियों के हिस्से में नहीं पड़ा। जो कोई बड़ा काम करे या जिससे सर्वसाधारण का उपकार हो, वही बड़े लोगों की कोटि में आ सकता है। वह चाहे ग़रीब-से-ग़रीब या छोटे-से-छोटे दर्जे का क्यों न हो, बड़े-से-बड़ा है। वह मनुष्य के तन में साक्षात् देवता है।

हमारे यहाँ अवतार ऐसे ही लोग हो गए हैं। सबेरे उठ जिनका नाम ले लेने से दिन भर के लिये मंगल की गारंटी समझी जाती है, ऐसे महामहिमशाली जिस कुल में जन्मते हैं, वह कुल उजागर और पुनीत हो जाता है। ऐसों ही की जननी वीरप्रसू कही जाती है। पुरुष-सिंह ऐसा एक पुत्र अच्छा, गीदड़ों की ख़ासियतवाले सौ पुत्र भी किस काम के!

———

# प्रतापनारायण मिश्र

(१८५६–१८९४ ई०)

मिश्रजी का जन्म उन्नाव के समीप बैजे नामक ग्राम में हुआ था। हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर आप हिन्दी में लेखादि लिखने लगे और थोड़े ही दिनों में भारतेन्दु-मण्डल के प्रमुख साहित्यकारों में आपकी गणना होने लगी। मिश्रजी ने कवि, नाटककार तथा निवन्ध-लेखक के रूप में अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया; किन्तु आपकी प्रसिद्धि का अधिकांश श्रेय आपके निवन्धों को ही है। प्रायः दस वर्षों तक आप कानपुर से 'ब्राह्मण' नामक पत्र का सम्पादन करते रहे जिसमें विभिन्न विषयों पर आपके लेख निकला करते थे। प्रकृति से विनोदप्रिय एवं मनमौजी होते हुए भी मिश्रजी की सूझ बड़ी मौलिक होती थी। जीवन के थोड़े से अवकाश में ही मिश्रजी ने हिन्दी-साहित्य की उन्नति में जो योग दिया वह स्मरणीय है। कई निवन्ध-संग्रहों के अतिरिक्त 'कलिकौतुक रूपक', 'कलिप्रभाव', 'भारत-दुर्दशा', 'गोसंकट' आदि आपके नाटक हैं।

मिश्रजी सनातनी ब्राह्मण थे और धर्म एवं सदाचार सम्वन्धी लेख वरावर लिखते रहे किन्तु इनकी प्रवृत्ति 'बात', 'वृद्ध', 'भौंह', 'दाँत' जैसे सामान्य विषयों पर लिखने की ओर अधिक थी। उनकी सजीवता एवं विनोद-प्रियता की पूरी-पूरी छाप शैली पर पड़ी है और उनके लेखों में उनका व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिविम्वित हो उठता है। शव्दों के चयन में भट्टजी की भाँति ही यह भी उदार वृत्तिवाले थे और उर्दू, फारसी तथा अंग्रेजी के शव्दों का वेधड़क प्रयोग किया है। उस युग के इन दोनों ही लेखकों की भाषा मुहावरेदार है, किन्तु मिश्रजी की शैली उतनी गम्भीर और परिष्कृत नहीं है जितनी भट्टजी की। अपने लेखों को सर्वजनसुलभ

बनाने के मोह में इन्होंने ग्रामीण शब्दों एवं मुहावरों का प्रचुरता से प्रयोग किया है। वाक्यों में पूर्वी प्रयोग भी प्रचुरता से मिलते हैं। व्याकरण सम्बन्धी भूलें भी आपने की हैं और कहीं-कहीं विचित्र लिपिदोष हैं। आपके लेखों में कल्पना का बाहुल्य तो है किन्तु गम्भीर विवेचना का अभाव सा है। फिर भी उनके द्वारा सृजित साहित्य में एक विशेष चमत्कार एवं आकर्षण है।

प्रस्तुत निबन्ध में जनता के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लेखक ने पंच को परमेश्वर माना है। वर्णन-शैली में एक विचित्र प्रकार का कल्पना-मिश्रित वेग एवं आकर्षण है। विषय का प्रतिपादन बुद्धि-विवेचना के सहारे न करके भावना के सहारे ही किया गया है। वाग्छल एवं विनोद की मात्रा पर्याप्त है। स्वच्छन्द आत्माभिव्यंजक निबन्ध का यह अच्छा उदाहरण है।

———

# पंच परमेश्वर

पंचतत्त्व से परमेश्वर सृष्टि-रचना करते हैं। पंचसम्प्रदाय में परमेश्वर की उपासना होती है। पंचामृत से परमेश्वर की प्रतिमा का स्नान होता है। पंच वर्ष तक के बालकों का परमेश्वर इतना ममत्व रखते हैं कि उनके कर्तव्याकर्तव्य की ओर ध्यान न देके सदा सब प्रकार रक्षण किया करते हैं। पंचेन्द्रिय के स्वामी को वश कर लेने से परमेश्वर सहज में वश हो सकते हैं। काम पंचबाण को जगत् जय करने की, पंचगव्य को अनेक पाप हरने की, पंचप्राण को समस्त जीवधारियों के सर्वकार्यसम्पादन की, पंचत्व (मृत्यु) को सारे झगड़े मिटा देने की, पंचरत्न को बड़े बड़ों का जी ललचाने की सामर्थ्य परमेश्वर ने दे रक्खी है।

धर्म में पंचसंस्कार, तीर्थों में पंचगंगा और पंचकोसी, मुसलमानों में पंच पवित्र आत्मा (पाक पंजतन) इत्यादि का गौरव देख के विश्वास होता है कि पंच शब्द से परमेश्वर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इसी मूल पर हमारे नीति-विदाम्बर पूर्वजों ने उपर्युक्त कहावत प्रसिद्ध की है, जिसमें सर्वसाधारण संसारी-व्यवहारी लोग ( यदि परमेश्वर को मानते हों तो ) पंच अर्थात् अनेक जनसमुदाय को परमेश्वर का प्रतिनिधि समझें। क्योंकि परमेश्वर निराकार निर्विकार होने के कारण न किसी को बाह्य चक्षु के द्वारा दिखाई देता है, न कभी किसी ने उसे कोई काम करते देखा; पर यह अनेक बुद्धिमानों का सिद्धान्त है कि जिस बात को पंच कहते वा करते हैं वह अनेकांश में यथार्थ ही होती है। इसी से :—

"पाँच पंच मिल कीजे काज, हारे जीते होय न लाज,"

तथा—

"बजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो,
ज़बाने खल्क़ को नक्क़ारए खुदा समझो।"

इत्यादि वचन पढ़े लिखों के हैं, और—'पाँच पंच कै भाषा अमिट होती है', 'पंचन का बैर कै कै को तिष्ठा है' इत्यादि वाक्य साधारण लोगों के मुँह से बात-बात पर निकलते रहते हैं। विचार के देखिए तो इसमें कोई सन्देह भी नहीं है कि—

'जब जेहिं रघुपति करहिं जस, सो तस तेहि छिन होय'

की भाँति पंच भी जिसको जैसा ठहरा देते हैं वह वैसा ही बन जाता है। आप चाहे जैसे बलवान्, धनवान्, विद्वान् हों; पर यदि पंच की मरज़ी के खिलाफ़ चलिएगा तो अपने मन में चाहे जैसे बने बैठे रहिए, पर संसार से आपका वा आपसे संसार का कोई काम निकलना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। हाँ, सब झगड़े छोड़कर विरक्त हो जाइए तो और बात है। पर, उस दशा में भी पंचभूतमय देह एवं पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय का झंझट लगा ही रहेगा। इसी से कहते हैं कि पंच का पीछा पकड़े बिना किसी का निर्वाह नहीं। क्योंकि पंच जो कुछ करते हैं, उसमें परमेश्वर का संसर्ग अवश्य रहता है, और परमेश्वर जो कुछ करता है वह पंच ही के द्वारा सिद्ध होता है। वरंच यह कहना भी अनुचित नहीं है कि पंच न होते तो परमेश्वर का कोई नाम भी न जानता। पृथ्वी पर के नदी, पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी और आकाश के सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रादि से परमेश्वर की महिमा विदित होती सही, पर किसको विदित होती? अकेले परमेश्वर ही अपनी महिमा लिए बैठे रहते।

सच पूछो तो परमेश्वर को भी पंच से बड़ा सहारा मिलता है। जब चाहा कि अमुक देश को पृथ्वी भर का मुकुट बनावें, बस आज एक, कल दो, परसों सौ के जी में सद्गुणों का प्रचार करके पंच लोगों को श्रमी, साहसी, नीतिमान्, प्रीतिमान् बना दिया। कंचन बरसने लगा। जहाँ जी में आया कि अमुक जाति अब अपने बल, बुद्धि, वैभव के घमंड के मारे बहुत उन्नतग्रीव हो गई है, इसका सिर फोड़ना चाहिए, वहीं दो चार लोगों के द्वारा पंच के हृदय में फूट फैला दी। बस, बात की बात

में सब के करम फूट गए। चाहे जहाँ का इतिहास देखिए, यही अवगत होगा कि वहाँ के अधिकांश लोगों की चित्तवृत्ति का परिणाम ही उन्नति या अवनति का मूल कारण होता है।

जब जहाँ के अनेक लोग जिस ढर्रे पर झुके होते हैं तब थोड़े से लोगों का उसके विरुद्ध पदार्पण करना—चाहे अतिश्लाघनीय उद्देश्य से भी हो पर—अपने जीवन को कंटकमय करना है। जो लोग संसार का सामना करके दूसरों के उद्धारार्थ अपना सर्वस्व नाश करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं वे मरने के पीछे यश अवश्य पाते हैं, पर कब ? जब उस काल के पंच उन्हें अपनाते हैं तभी। पर ऐसे लोग जीते जी आराम से छिनभर नहीं बैठने पाते, क्योंकि पंच की इच्छा के विरुद्ध चलना परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना है, और परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना पाप है, जिसका दंड-भोग किए बिना किसी का बचाव नहीं। इसमें महात्मापन काम नहीं आता। पर ऐसे पुरुषरत्न कभी कहीं सैकड़ों सहस्रों वर्ष पीछे लाखों करोड़ों में से एक आध दिखाई देते हैं। सो भी किसी ऐसे काम की नींव डालने को जिसका बहुत दिन आगे पीछे लाखों लोगों को शान-गुमान भी नहीं होता। अतः ऐसों को संसार में गिनना ही व्यर्थ है। वे अपने वैकुण्ठ, कैलाश, गोलोक, हेविन, बहिश्त कहीं से आ जाते होंगे। हमें उनसे क्या। हम सांसारिकों के लिए तो यही सर्वोपरि सुख-साधन का उपाय है कि हमारे पंच यदि सचमुच विनाश की ओर जा रहे हों तो भी उन्हीं का अनुगमन करें। तो देखेंगे कि दुख में भी एक अपूर्व सुख मिलता है। जैसे कि अगले लोग कह गए हैं कि—

"पंचों शामिल मर गया जैसे गया बरात।"

"मर्गे-अम्बोह जश्ने दारद।"

जिसके जाति, कुटुम्ब, हेती-व्यवहारी, इष्ट-मित्र, अड़ोसी-पड़ोसी में से एक भी मर जाता है उसके मुँह से यह कभी नहीं निकलता कि परमेश्वर

ने दया की। क्योंकि जब परमेश्वर ने पंचों में से एक अंश खींच लिया तो दया कैसी। वरंच यह कहना चाहिए कि हमारे जीवन की पूँजी में से एक भाग छीन लिया। पर अनुमान करो कि यदि किसी पुरुष के इष्ट-मित्रों में से कोई न रहे तो उसके जीवन की क्या दशा होगी। क्या उसके लिए जीने से मरना अधिक प्रिय न होगा ? फिर इसमें क्या संदेह है कि पंच और परमेश्वर कहने को दो हैं, पर शक्ति एक ही रखते हैं। जिस पर यह प्रसन्न होंगे वही उसकी प्रसन्नता का प्रत्यक्ष फल लाभ कर सकता है। जो इनकी दृष्टि में तिरस्कृत है वह उसकी दृष्टि में भी दयापात्र नहीं है। अपने ही लों वह कैसा ही अच्छा क्यों न हो। पर इसमें मीन मेख नहीं है कि संसार में उसका होना न होना बराबर होगा। मरने पर भी अकेला वैकुण्ठ में क्या सुख देखेगा। इसी से कहा है—

"जियत हँसी जो जगत में, मरे मुक्ति केहि काज"

क्या कोई सकल सद्‌गुणालंकृत व्यक्ति समस्त सुख-सामग्री-संयुक्त, सुवर्ण के मंदिर में भी एकाकी रहके सुख से कुछ काल रह सकता है ? ऐसी-ऐसी बातों को देख सुन, सोच समझ के भी जो लोग किसी डर या लालच या दबाव में फँस के पंच के विरुद्ध हो बैठते हैं, अथवा द्वेषियों का पक्ष समर्थन करने लगते हैं वे हम नहीं जानते कि परमेश्वर, (प्रकृति) दीन, ईमान, धर्म, कर्म, विद्या, बुद्धि, सहृदयता और मनुष्यत्व को क्या मुँह दिखाते होंगे ? हमने माना कि थोड़े से हठी, दुराग्रही लोगों के द्वारा उन्हें मन का धन, कोरा पद, झूठी प्रशंसा मिलनी सम्भव है, पर इसके साथ अपनी अंतरात्मा ( कानशेन्स ) के गले पर छुरी चलाने का पाप तथा पंचों का श्राप भी ऐसा लग जाता है कि जीवन को नर्कमय कर देता है, और एक न एक दिन अवश्य भंडा फूट के सारी शेखी मिटा देता है, यदि ईश्वर की किसी हिकमत से जीते जी ऐसा न भी हो तो मरने के पीछे आत्मा की दुर्गति, दुर्नाम, अपकीर्ति एवं संतान के लिए लज्जा तो कहीं

गई ही नहीं। क्योंकि पंच का वैरी परमेश्वर का वैरी है, और परमेश्वर के वैरी के लिए कहीं शरण नहीं है—

राखि को सकै रामकर द्रोही।

पाठक! तुम्हें परमेश्वर की दया और बड़ों बूढ़ों के उद्योग से विद्या का अभाव नहीं है। अतः आँखें पसार के देखो कि तुम्हारे जीवनकाल में पढ़ी लिखी सृष्टिवाले पंच किस ओर झुक रहे हैं, और अपने ग्रहण किये हुए मार्ग पर किस दृढ़ता, वीरता और अकृत्रिमता से जा रहे हैं कि थोड़े से विरोधियों की गाली धमकी तो क्या, वरंच लाठी तक खाके हतोत्साह नहीं होते, और स्त्री-पुत्र, धन-जन क्या, वरंच आत्मविसर्जन तक का उदाहरण बनने को प्रस्तुत हैं। क्या तुम्हें भी उसी पथ का अवलंबन करना मंगलदायक न होगा? यदि बहकानेवाले रोचक और भयानक बातों से लाख बार करोड़ प्रकार समझावें तो भी ध्यान न देना चाहिए। इस बात को यथार्थ समझना चाहिए कि पंच ही का अनुकरण परम कर्तव्य है। क्योंकि पंच और परमेश्वर का बड़ा गहिरा सम्बन्ध है। बस इसी मुख्य बात पर अचल विश्वास रखके पंच के अनुकूल मार्ग पर चले जाइये तो दो ही चार मास में देख लीजियेगा कि बड़े-बड़े लोग आपके साथ बड़े स्नेह से सहानुभूति करने लगेंगे, और बड़े-बड़े विरोधी साम, दाम, दंड, भेद से भी आपका कुछ न कर सकेंगे। क्योंकि सब से बड़े परमेश्वर हैं, और उन्होंने अपनी बड़ाई के बड़े-बड़े अधिकार पंच महोदय को दे रक्खे हैं। अतः उनके आश्रित, उनके हितैषी, उनके कृपापात्र का कभी कहीं किसी के द्वारा वास्तविक अनिष्ट नहीं हो सकता। इससे चाहिए कि इसी क्षण भगवान् पंचवक्त्र का स्मरण करके पंच परमेश्वर के हो रहिए तो सदा सर्वदा पंचपांडव की भाँति निश्चिन्त रहिएगा।

———

# महावीरप्रसाद द्विवेदी

(१८७०–१९३८ ई०)

खड़ी बोली गद्य के स्वरूप-विधायक आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी रायबरेली ज़िले के निवासी थे। बहुत दिनों तक बम्बई में रेलवे दफ्तर में नौकरी करने के उपरान्त आप हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा में लग गए। सन् १९०३ से १९२२ ई० तक आपने प्रयाग की 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का सम्पादन किया और इस दीर्घ अवकाश में भाषा एवं साहित्य की समुन्नति में अमूल्य योग दिया। हिन्दी-लेखकों की व्याकरण सम्बन्धी भूलों को बताकर आपने भाषा और शैली का रूप स्थिर किया, अपने लेखों द्वारा आलोचना-पद्धति का प्रवर्त्तन किया तथा खड़ी बोली में कविता कर कवियों को पथ प्रदर्शित किया। इस तरह भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी के प्रचार, प्रसार एवं साहित्य-निर्माण में सर्वाधिक कार्य द्विवेदीजी ने ही किया। इस दृष्टि से आप आधुनिक युग के वास्तविक आचार्य हैं। हिन्दी-जगत् ने द्विवेदीजी की इस महत्ता को कृतज्ञता के साथ स्वीकार किया है। उनकी सत्तरहवीं वर्षगाँठ पर 'नागरीप्रचारिणी सभा' द्वारा समर्पित 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' तथा प्रयाग में आयोजित 'द्विवेदी मेला' इस कथन के समर्थक हैं।

द्विवेदीजी ने छोटी-मोटी अनेक पुस्तकें लिखीं, सैकड़ों फुटकर लेख लिखे तथा अनेक संस्कृत एवं अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवाद किए।

आचार्य की भाषा ओजमयी है। विचारों को अभिव्यक्त करने की रीति हृदयग्राही और बोधगम्य है। विषय के अनुसार शैली बदलती गई है। गम्भीर विषयों का विवेचन करते समय भाषा में भी गुरुता आ जाती है, उसका प्रवाह संयत हो जाता है। विषय के प्रत्येक पक्ष को स्पष्ट करते हुए आगे बढ़ते हैं, आलोचना करते समय वाक्यों में कटाक्ष

करने की अद्भुत शक्ति आ जाती है। आपका व्यंग चटपटा उतना नहीं होता जितना चुटीला होता हैं। भाषा व्याकरण-सम्मत, परिष्कृत, सरल और सुबोध होती है। उनके शब्द-भाण्डार में संस्कृत के तत्सम, तद्भव, देशज, सभी प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त उर्दू के व्यावहारिक शब्दों का भी वाहुल्य है। यथावसर अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग मिलता हैं।

रामायण के पात्रों में एक तरह से सबसे अधिक मानसिक व्यथा लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला को ही झेलनी पड़ी किन्तु वाल्मीकि, तुलसी आदि कवियों ने उस वियोगिनी को अपनी सहानुभूति से वंचित रखा। द्विवेदीजी ने प्रस्तुत लेख में इस पर क्षोभ प्रकट किया हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी 'काव्येर उपेक्खिता' नाम से इसी आशय का एक निवन्ध लिखा था। इन लेखों से प्रभावित होकर ही श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' की रचना की जिसमें उर्मिला का वर्णन ही प्रमुख हो उठा है।

———

# कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता

कवि स्वभाव से ही उच्छृंखल होते हैं। वे जिस तरफ़ झुक गए, झुक गए। जी में आया तो राई का पर्वत कर दिया, जी में न आया तो हिमालय की तरफ़ भी आँख उठाकर न देखा। यह उच्छृंखलता या उदासीनता सर्वसाधारण कवियों में देखी ही जाती है, आदिकवि तक इससे नहीं बचे। क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक पक्षी का निषाद द्वारा वध किया गया देख, जिस कवि-शिरोमणि का हृदय दुःख से विदीर्ण हो गया, और जिसके मुख से "मा निषाद" इत्यादि सरस्वती सहसा निकल पड़ी, वहीं पर दुःखकातर मुनि, रामायण निर्माण करते समय, एक नवपरिणीता दुःखिनी वधू को बिलकुल ही भूल गया। विपत्तिविधुरा होने पर उसके साथ अल्पादल्पतरा समवेदना तक उसने प्रकट न की, उसकी खबर तक न ली।

वाल्मीकि रामायण का पाठ किंवा पारायण करनेवालों को उर्मिला के दर्शन सबसे पहिले जनकपुर में सीता, माण्डवी और श्रुतकीर्ति के साथ होते हैं। सीता की बात तो जाने ही दीजिये। उनके और उनके जीविताधार रामचन्द्र के चरित्र-चित्रण ही के लिये रामायण की रचना हुई है। माण्डवी और श्रुतकीर्ति के विषय में कोई विशेषता नहीं। क्योंकि आग से भी अधिक सन्ताप पैदा करनेवाला पति-वियोग उनको हुआ ही नहीं। रही बाल-वियोगिनी देवी-उर्मिला, सो उसका चरित्र सर्वथा गेय और आलेख्य होने पर भी, कवि ने उसके साथ अन्याय किया। मुने! इस देवी की इतनी उपेक्षा क्यों? क्या इसलिए कि इसका नाम इतना श्रुति-सुखद, इतना मंजुल, इतना मधुर है, और तापसजनों का शरीर सदैव शीतातप सहने के कारण कठोर और कर्कश होता है, पर नहीं, आपका काव्य पढ़ने से तो यही जान पड़ता है कि आप कठोरता-प्रेमी नहीं। भवतु

नाम। हम इस उपेक्षा का एकमात्र कारण भगवती उर्मिला का भाग्य-दोष ही समझते हैं।

हा हतविधिलसिते परमकारुणिकेन मुनिना वाल्मीकिनापि विस्मृतासि।

हाय वाल्मीकि ! जनकपुरी में तुम उर्मिला को सिर्फ एक बार वैवाहिक वधूवेश में दिखाकर चुप हो बैठे। अयोध्या आने पर ससुराल में उसकी सुध यदि आपको न आई थी तो न सही। पर, क्या लक्ष्मण के वन-प्रयाण समय में भी उसके दुःखाश्रुमोचन करना आपको उचित न जँचा ? राम-चन्द्र के राज्याभिषेक की जब तैयारियाँ हो रही थीं, जब राजान्तःपुर ही क्यों, सारा नगर नन्दन बन रहा था, उस समय नवला उर्मिला कितनी खुशी मना रही थी, सो क्या आपने नहीं देखा ? अपने पति के परमाराध्य राम को राज्य-सिंहासन पर आसीन देख उर्मिला को कितना आनन्द होता, इसका अनुमान क्या आपने नहीं किया ? हाय, वही उर्मिला एक घण्टे बाद, राम जानकी के साथ, निज पति को १४ वर्ष के लिए वन जाते देख छिन्नमूल शाखा की तरह राज-सदन की एकान्त कोठरी में भूमि पर लोटती हुई क्या आपके नयनगोचर न हुई ? फिर भी उसके लिए आपकी "वचने दरिद्रता"। उर्मिला वैदेही की छोटी बहिन थी। सो उसे बहिन का वियोग सहना पड़ा और प्राणाधार पति का भी वियोग सहना पड़ा; पर इतनी घोर दुःखिनी होने पर भी आपने दया न दिखाई। चलते समय लक्ष्मण को उसे एक बार आँख भर देख भी न लेने दिया। जिस दिन राम और लक्ष्मण, सीता देवी के साथ चलने लगे, जिस दिन उन्होंने अपने पुरत्याग से अयोध्या नगरी को अन्धकार में, नगरवासियों को दुःखोदधि में और अपने पिता को मृत्युमुख में निपतित किया, उस दिन भी आपको उर्मिला याद न आई। उसकी क्या दशा थी, वह कहाँ पड़ी थी, सो कुछ भी आपने न सोचा, इतनी उपेक्षा।

लक्ष्मण ने अकृत्रिम भ्रातृस्नेह के कारण बड़े भाई का साथ दिया। उन्होंने राज-पाट छोड़कर अपना शरीर रामचन्द्र को अर्पण किया। यह

बहुत बड़ी बात थी, पर उर्मिला ने इससे भी बढ़कर आत्मोत्सर्ग किया। उसने अपनी आत्मा की अपेक्षा भी अधिक प्यारा अपना पति राम-जानकी के लिए दे डाला और यह आत्मसुखोत्सर्ग उसने तब किया जब उसे ब्याह कर आये हुए कुछ ही समय हुआ था। उसने अपने सांसारिक सुख के सबसे अच्छे अंश से हाथ धो डाला। जो सुख विवाहोत्तर उसे मिलता, उसकी बराबरी १४ वर्ष पति-वियोग के बाद का सुख कभी नहीं कर सकता। नवोढत्व को प्राप्त होते ही जिस उर्मिला ने, रामचन्द्र और जानकी के लिए अपने सुखसर्वस्व पर पानी डाल दिया उसी के लिए अन्तर्दर्शी आदिकवि के शब्द-भाण्डार में दरिद्रता।

पति-प्रेम और पति-पूजा की शिक्षा सीता देवी को जहाँ मिली थी वहाँ उर्मिला को भी मिली। सीता देवी की सम्मति थी कि—

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।
पिय बिनु तियहिं तरनि ते ताते।

उर्मिला की क्या यह भावना न थी? जरूर थी। दोनों एक ही घर की थीं। उर्मिला [illegible] पतिपरायणता [illegible] को अच्छी तरह जानती थी। पर उसने लक्ष्मण के साथ वन-गमन की हठ, जान-बूझकर नहीं की। यदि वह भी साथ जाने को तैयार होती तो लक्ष्मण को अपने अग्रज राम के साथ उसे ले जाने में संकोच होता, और उर्मिला के कारण लक्ष्मण अपने उस आराध्य युग्म की सेवा भी अच्छी तरह न कर सकते। यही सोच-कर उर्मिला ने सीता का अनुकरण नहीं किया। यह बात उसके चरित्र की बहुत बड़ी महत्ता की बोधक है। वाल्मीकि को ऐसी उच्चाशय रमणी का विस्मरण होते देख किस कवितामर्मज्ञ को आन्तरिक वेदना न होगी।

तुलसीदासजी ने भी उर्मिला पर अन्याय किया है। आपने इस विषय में आदिकवि का ही अनुकरण किया है। "नानापुराणनिगमागम-सम्मत" लेकर जब रामचरित-मानस की रचना करने की घोषणा की थी, तब यहाँ पर आदि-काव्य को ही अपने वचनों का आधार मानने की कोई

वैसी जरूरत न थी। आपने भी चलते वक्त लक्ष्मण को उर्मिला से नहीं मिलने दिया। माता से मिलने के बाद, झट कह दिया—

गये लषण जहँ जानकि नाथा।

आपके इष्टदेव के अनन्य सेवक "लषण" पर इतनी सख्ती क्यों? अपने कमण्डलु के करुणा-वारि का एक भी बूँद आपने उर्मिला के लिए नहीं रक्खा। सारा का सारा कमण्डलु सीता को समर्पण कर दिया। एक ही चौपाई में उर्मिला की दशा का वर्णन कर देते। अथवा इसी के मुँह से कुछ कहलाते। पाठक सुन तो लेते कि राम जानकी के वनवास और अपने पति के वियोग के सम्बन्ध में क्या-क्या भावनायें उसके कोमल हृदय में उत्पन्न हुई थीं। उर्मिला को जनकपुर से साकेत पहुँचाकर उसे एकदम ही भूल जाना अच्छा नहीं हुआ।

हाँ, भवभूति ने इस विषय में कुछ कृपा की है। राम, लक्ष्मण और जानकी के वन से लौट आने पर भवभूति को बेचारी उर्मिला की एक बार याद आ गई है। चित्रफलक पर उर्मिला को देखकर सीता ने लक्ष्मण से पूछा "इयमप्यपरा का?" अर्थात् लक्ष्मण यह कौन है? इस प्रकार देवर से पूछना कौतुक से खाली नहीं। इसमें सरसता है। लक्ष्मण इस बात को समझ गए। वे कुछ लज्जित होकर मन ही मन कहने लगे, उर्मिला को सीतादेवी पूछ रही हैं। उन्होंने सीता के प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही उर्मिला के चित्र पर हाथ रख दिया। उनके हाथ से वह ढक गया। कैसे खेद की बात है कि उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्र कवियों के द्वारा भी आज तक इसी तरह ढकता आया।

———
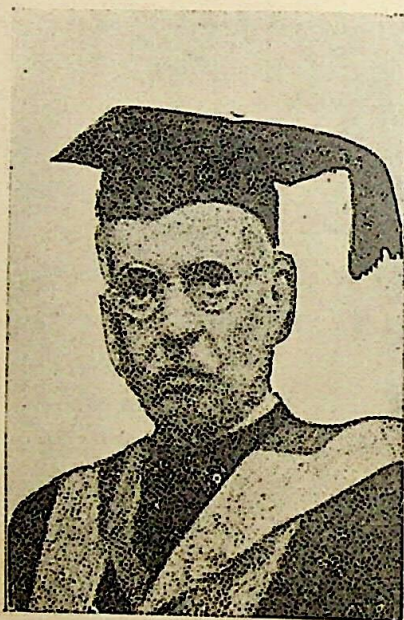
स्व० डा० श्यामसुन्दर दास

## श्यामसुन्दरदास

(१८७५–१९४५ ई०)

हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रधान उन्नायक वाबू श्यामसुन्दरदास जी काशी के निवासी थे। विद्यार्थी जीवन में ही आपने दो अन्य मित्रों की सहायता से 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा' की स्थापना की जिसका प्रधान ध्येय हिन्दी का प्रचार, प्रसार और संवर्धन था। अनेक वर्षों तक आप काशी-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे तथा वड़ी योग्यता से उस विभाग का संचालन किया। वाबू साहव कई वर्षों तक नागरीप्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक रहे, अनेक हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों की खोज कराकर उन्हें प्रकाश में लाए, सैकड़ों पुस्तकों का सम्पादन किया तथा अनेक लेखक तैयार किए। आपके ग्रन्थों में 'साहित्यालोचन,' 'रूपक-रहस्य,' 'भाषा-रहस्य,' 'भाषा विज्ञान,' 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' आदि प्रमुख हैं।

वाबू साहव ने गंभीर विषयों को सर्वजनसुलभ वनाकर लिखने का प्रयास किया। इनकी विवेचन-शैली सरल और स्पष्ट होते हुए भी गंभीर और किसी हद तक रुक्ष है। इसमें किसी भी प्रकार का व्यंग-विनोद नहीं है। किसी पर आक्षेप करते समय भी भाषा वड़ी धीमी एवं संकेतात्मक रहती है। भाषा में अधिकतर संस्कृत के तत्सम शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं यद्यपि समास-गुम्फित वाक्यों का अभाव है। उर्दू के शब्द पहले तो लिए ही कम गए हैं और जो लिए भी गए हैं उनमें अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल ध्वनि-परिवर्त्तन कर लिया गया है। वाबू साहव वाहरी शब्दों को अपनी भाषा में पचा लेने के पक्षपाती थे। इनकी रचना में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग नहीं-सा है। एक ही वात को वार-वार समझाने का प्रयत्न किया गया है। वात को विना किसी घुमाव-फिराव के सीधे और स्पष्ट रूप से कह देना वाबू साहव जानते थे।

'साहित्यालोचन' में बाबू साहब ने समीक्षा-सिद्धान्तों का पाश्चात्य-प्रणाली पर विवेचन किया है। प्रस्तुत पाठ उसी ग्रन्थ से अवतरित है। इसमें कवि-कल्पना के महत्त्व एवं स्वरूप का दिग्दर्शन किया गया है। विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है, वही कविता में कल्पना है'। कवि और वैज्ञानिक के सत्य में अन्तर होता है। इसीलिए प्रकृति के विभिन्न रूपों को वैज्ञानिक जिस दृष्टि से देखता है, कवि उससे नितान्त भिन्न दृष्टि से देखता है। इस लेख में बाबू साहब की शैली की प्रमुख विशेषताएँ देखने को मिल जाती हैं।

———

# कवि-कल्पना

काव्य की भूमि मानव-कल्पना की भूमि है। कवियों ने असंख्य रूपों में अपनी कल्पना का प्रकाश किया है और अगणित प्रकार से जीव-जगत् की वस्तुओं के संबंध में अपने भाव प्रकट किए हैं। जो तत्त्व उपदेशकों और धर्माचार्यों की शब्दावली में निहित होकर संसार की विरक्ति के हेतु बन गए हैं उन्हें कवियों की वाणी में पाकर जन-समाज आनंद से पी गया है। 'जहाँ रवि की पहुँच नहीं है वहाँ भी कवि की पहुँच है।' इस लोकोक्ति द्वारा कवि-कल्पना की गति समझी जा सकती है। विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है, वही कविता में कल्पना है। कल्पना के साथ कवि की कला है। इतिहास के लेखक के सामने अपनी विषय-वस्तु की एक निश्चित सामग्री है, जिसे अधिक से अधिक सजाकर वह आकर्षक कृति उपस्थित कर सकता है परंतु वह अबाध कविता नहीं कर सकता। कवियों ने अपनी कल्पना के बल से कितने ऐसे महान् पात्रों की सृष्टि की है जो संसार के हृदय पर शासन करते हैं और चिर दिन तक करेंगे। उन्होंने कितनी ही कामिनियों का शृंगार सजाया है जिन्हें देखकर मनुष्य एकांत भाव से मुग्ध हुआ है। कलाकार की कल्पना संसार की प्रायः समस्त उज्ज्वल, उदात्त और ऊर्जस्वित भावनाओं को पुष्ट करनेवाली, उन्हें मनोरम बनाकर मनुष्य-जीवन में मिला देनेवाली, सिद्ध हुई है। कवि अपनी कल्पना के इंगित से सहस्रों वर्षों तक—अमित काल पर्यंत—संसार-व्यापी समाज के मन पर शासन करता है। मानव-हृदय के सिंहासन पर अधिष्ठित हो वह अपनी प्रभुता का विस्तार करता है और लोक की श्रद्धांजलि उसके चरणों का नित्यप्रति अभिषेक करती है।

कवि कल्पना की इतनी प्रभुता है तो उसका उत्तरदायित्व भी कम

नहीं है। कल्पना सत्य होनी चाहिए और यह सत्य की साधना बड़ी ही दुस्साध्य है। प्रकृति की विस्तृत, दुर्गम निधि से सत्य कल्पना के रत्न चुन लेना और चुनकर कविता में इस भाँति सजा देना कि वह लोक-हृदय का हार बन जाय, साधारण कवियों का काम नहीं है। कवि-कल्पना में सत्यता होनी चाहिए किंतु सत्यता का जो अर्थ साधारणतः किया जाता है उसे कविता में ढूँढ़ना ठीक न होगा। वह तो केवल विज्ञान में मिल सकता है। कविता में सत्यता से अभिप्राय उस निष्कपटता से है और उस अंतर्दृष्टि से है जो हम अपने भावों या मनोवेगों का व्यंजन करने में, उनका हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे प्रत्यक्ष करने में तथा उनके कारण हमें जो सुख-दुःख, आशा-निराशा, भय-आशंका, आश्चर्य-चमत्कार, श्रद्धा-भक्ति आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, उनको अभिव्यक्त करने में प्रदर्शित करते हैं। अतएव कविता में सत्यता की कसौटी यह नहीं हो सकती कि हम वस्तुओं का वास्तविक रूप खोलकर दिखावें, किंतु इस बात में होती है कि उन वस्तुओं की सुंदरता, उनका रहस्य, उनकी मनोमुग्धकारिता आदि का हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे कविता की दृष्टि से स्पष्ट प्रकट करके दिखावें। यही कविता द्वारा जीवन की—मानव-जीवन और प्राकृतिक जीवन की—कल्पना और मनोवेगों के रूप में व्याख्या है। परंतु यह बात न भूलनी चाहिए कि कवि का संबंध वस्तुओं की सुंदरता, उनके भीतरी रहस्य और उनकी मनोमुग्धकारिता से है। इस कारण कवि जो चाहे, लिखने के लिये स्वतंत्र है। उसके लिये प्राकृतिक घटनाओं का, वस्तुओं की वास्तविक स्थिति आदि का कोई प्रतिबंध नहीं है। यह सच है कि कवि हमें वस्तुओं के गूढ़ भाव का परिचय, हमारे और उनके परस्पर संबंध को कल्पना और मनोवेगों से रंजित करके कराता है परंतु हम यह बात नहीं सह सकते कि वह हमें अँधेरे में ढकेल दे और वस्तुओं के विकृत रूप से हमें परिचित करावे। उसका सांसारिक ज्ञान और प्राकृतिक अनुभव स्पष्ट, सच्चा और स्थायी होना चाहिए और जिन घटनाओं या बातों

को वह उपस्थित करे, उसके संबंध में उसके सिद्धांत निष्कपटता तथा सचाई की नींव पर स्थित हों। जहाँ इसका अभाव हुआ, वहाँ कविता की महत्ता बहुत कम हो गई।

कवि-कल्पना में सत्यता का यह अर्थ नहीं है कि कवि अपनी कल्पना को कुंठित कर ले और अपने अनुभवों पर प्रतिबंध लगाकर भावाभिव्यक्ति को पंगु बना दे। वह अधिक से अधिक स्वच्छंदता का उपयोग करने में स्वतंत्र है। संसार के कवियों ने अपनी प्रतिभा की इसी स्वतंत्र गति से मनुष्य की भिन्न-भिन्न रुचि के लिये सामग्री एकत्र की है और भाँति-भाँति से उसकी सौंदर्य-लालसा को उद्दीप्त किया है तथा उसकी कल्पना-शक्ति को वास्तविक जीवन का अलंकार बना दिया है। यदि हम केवल एक उदाहरण कवियों के प्रकृति-वर्णन का लें और केवल स्थूल रूप से उन विशिष्ट प्रणालियों की गणना करें जिनके द्वारा उन्होंने हमारे चतुर्दिक के शुष्क प्रसार का नयनाभिराम वर्णन करके हममें अनोखी ही चेतनाशक्ति उत्पन्न की है, तो हम समझ सकेंगे कि कवि की गति का कहीं ओर-छोर नहीं है और उसकी इस गति में मनुष्य की अनेकमुखी आकांक्षाएँ शांत और शोभित होती हैं। कुछ कवियों के लिये प्रकृति ऐसी निर्मल, सहज और स्वच्छ आनंद देनेवाली होती है जिसे सभी मनुष्य उसके दर्शन और संसर्गसे उठा सकते हैं, पर मनःकल्पना मूर्च्छित होने के कारण वे उससे अधिकांश में वंचित ही रहते हैं। कवियों की वाणी उस मूर्च्छा को दूर कर देती है और जो दृश्य उनकी चेतना की जागर्ति नहीं करते थे वे परम रम्य बनकर एक नवीन प्रेरणा से उनकी आत्मा को भर देते हैं। वे कवि और कुछ नहीं करते, प्रकृति की जिस वस्तु को जिस रूप में देखते हैं उसी रूप में चित्रित कर देते हैं, अपने विचारों या भावों से रंजित नहीं करते, कोई उपदेश नहीं निकालते। ऐसे कवियों को प्रकृति की ओर किन्हीं आध्यात्मिक या गूढ़ भावनाओं से देखने की आवश्यकता नहीं होती। उन्हें उन भावनाओं से प्रयोजन नहीं होता जो किसी चिंतनशील आत्मा की

वस्तुओं का बाह्य रूप देखकर उनमें अंतर्हित निगूढ़ भावों के संबंध में उत्पन्न होती हैं। वे तो प्राकृतिक सुंदरता को यथावत् चित्रित कर देने में ही सुख मानते हैं। ऐसी कविता से आनंद का उद्रेक प्रतिबिंबित होकर नहीं उत्पन्न होता, वह सीधा, बिना किसी आधार या आश्रय के उत्पन्न होता है। ऐसे प्राकृतिक वर्णनों के उदाहरणों की संख्या नहीं है परंतु हिंदी कविता में ऐसे वर्णन अधिकतर ऋतुओं के अनुसार प्राकृतिक दृश्य-चित्रण के रूप में आए हैं। तथापि वहाँ भी प्रकृति की अपेक्षा नायक या नायिका के भावों को प्रदर्शित करने का अधिक उद्योग किया गया है जिससे प्रकृति की छटा फीकी पड़ गई है।

प्राचीन हिंदी काव्य में कहीं-कहीं प्रकृति और प्राकृतिक दृश्यों को उपदेश का साधन बनाकर चित्रित किया गया है। कवियों को इस उपदेश की प्रणाली का उपयोग करने की भी पूर्ण स्वतंत्रता है। वे प्रत्येक प्रकार की सत्यता का उपयोग कर सकते हैं। संसार में कोई ऐसा भाव नहीं है जिसे मनुष्य जान सकता हो पर जो कविता के रूप में उपस्थित न किया जा सकता हो। केवल वह प्रत्येक प्रसंग को सुंदरता का रूप देकर कविता के गुणों से विभूषित कर दे। उसे परिस्थिति के अनुकूल स्वाभाविक और रसमय बनाकर वह उपदेश भी दे सकता है। गोस्वामी तुलसीदास की ये उपदेशात्मक पंक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं—

दामिनि दमकि रही घन माहीं, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।
छुद्र नदी भरि चलि उतराई, जस थोरे धन खल बौराई॥
उदित अगस्त पंथ जल सोखा, जिमि लोभहिं सोखइ संतोषा।
बूँद अघात सहैं गिरि कैसे, खल के बचन संत सह जैसे॥

इससे यह प्रकट है कि कवि ने अपने आत्मानुभव से काम लिया है और अपने प्रत्यक्ष ज्ञान को अपनी कल्पना, संवेदना और बुद्धि से रंजित करके वह ऐसे चित्र उपस्थित करता है जो मन पर अपना प्रभाव डालते और रस संचार करते हैं। यहाँ कवि केवल उन्हीं बातों को नहीं कहता

जिनका प्रत्यक्षीकरण उसकी इंद्रियों को होता है। वह इसके आगे बढ़कर अपनी कल्पना से काम लेकर प्रकृति का ऐसा वर्णन करता है, जो पग-पग पर उसके दृश्यों का अनुसरण न करके अपनी विशेष छाप से, अपने विशेष भाव से रंजित कर देता है।

वैज्ञानिक बातों का उपयोग भी कवि अपने ढंग पर करता है। किसी वनस्थली को देखकर मन में अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। संसार परिवर्तनशील है। इस कारण वनस्थली में जहाँ पहले वृक्ष थे, वहाँ अब खुला मैदान हो गया है; जहाँ मैदान थे वहाँ पेड़ लग गए हैं। जहाँ पहले छोटी-छोटी नदियाँ बहती थीं, वहाँ अब सूखे नाले हैं; जहाँ सुंदर हरे-भरे मैदान थे, वहाँ नदियाँ बहने लगी हैं। इन बातों में थोड़े ही समय में परिवर्तन हो जाता है, पर पहाड़ों के नष्ट हो जाने या नए पहाड़ों के बनने में बहुत अधिक समय लगता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि कवि के विचारों तथा भावों के लिये चारों ओर सामग्री प्रस्तुत है, और यद्यपि उसका उपयोग या अनुभव करने में कवि की ज्ञानेंद्रियाँ ही उसकी सहायक हैं, तथापि वे वहीं जायँगी, जहाँ अनुकूल सामग्री उपस्थित होगी और जहाँ कवि को अपनी कल्पना उत्तेजित करने तथा उस कल्पना को खेलने-कूदने का पूरा अवकाश मिल सकेगा। इससे यह सिद्धांत निकलता है कि कवि जितना बड़ा होगा, वह उतना ही गम्भीर विचार करनेवाला तत्त्वज्ञ या दार्शनिक होगा। अतएव संसार में जितने नए विचार उत्पन्न होंगे या जितनी नई वैज्ञानिक खोज होगी वे सब उसके लिये आवश्यक और मनोमुग्धकारी होंगी। सबका प्रभाव उस पर पड़ेगा। मनुष्यों की आशाओं, मनोरथों, उद्देश्यों आदि पर इन विचारों या खोजों का भला बुरा जो कुछ प्रभाव पड़ेगा, सब पर उसका ध्यान जायगा, और चाहे वह अपनी कविता में उनका प्रत्यक्ष उल्लेख न करे, पर फिर भी उसकी कविता किसी न किसी और सूक्ष्म से सूक्ष्म रीति पर उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सकेगी।

अतएव यह कहना कि विज्ञान की बातों से कवि का संबंध नहीं है, उचित नहीं है। वह उसके व्यापक प्रभाव से बच नहीं सकता। आजकल जब कि नित्य नए आविष्कार और अनुसन्धान हो रहे हैं और विचारों का बवंडर-सा चल रहा है, कविता और विज्ञान में यदि कुछ विरोध देख पड़े, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विचारों के विकास में मनोवेग बुद्धि के साथ-साथ नहीं बने रहते। वे पीछे रह जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कवि साधारणतः पुराने विचारों का कट्टर पक्षपाती बना रहता है। पर कल्पना के द्वारा कवि वैज्ञानिकों से कोसों आगे चला करते हैं और आनेवाले युग की बातें करते हैं। वैज्ञानिक वर्तमान युग बनाते हैं और कवि उनके भूत और भविष्य की आलोचना करते हैं। इसी मार्मिक और चुभनेवाली आलोचना को कविता कहते हैं।

कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जो कविता में प्रकृति के नाना रूपों का प्रयोग केवल उपमा या उदाहरण के रूप में करते हैं। उनकी उपमाएँ प्रायः प्रकृति ही से ली जाती हैं। जैसे पद्माकर का कहना—'बिज्जु छटा सी अटा पै चढ़ी मुक्ता छवि घालि कटा करती है।' इस प्रकार की कविता बहुत मिलती है। पद पद पर इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। इस संबंध में विचारने की बात केवल इतनी ही है कि कवि ने ऐसे प्राकृतिक उदाहरणों का अनुचित उपयोग तो नहीं किया है।

कविता में प्रकृति के प्रयोग का चौथा प्रकार उसे मनुष्यों के मनोवेगों या कार्यों की क्रीड़ास्थली की भाँति काम में लाना है। जिस प्रकार किसी ऐतिहासिक घटना या चित्र को अंकित करने में चित्रकार पहले घटनास्थल का एक स्थूल चित्र अंकित करके तब उसमें मुख्य घटना को चित्रित करता है, उसी प्रकार कवि मनुष्य के क्रिया-कलापों का वर्णन करने के पूर्व उसके क्रियाक्षेत्र के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करता है। इसके लिये कभी कवि किसी स्थान का और कभी किसी समय का वर्णन करता है, और इसके अनंतर वह अपने मुख्य विषय पर आकर अपनी कविता के

उद्देश्य की ओर अग्रसर होता है, विशेषतः कथानक के लिखने में प्रकृति का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात यही है कि प्राकृतिक दृश्य के वर्णन में मस्त होकर कवि कहीं अपने मुख्य विषय को न भूल जाय और उस दृश्य के वर्णन को आवश्यकता से अधिक विस्तृत न कर दे या उसे कोई तुच्छ स्थान न दे दे।

इसके अतिरिक्त कवि का प्रकृति-वर्णन बहुत कुछ मनोवृत्तियों, भावनाओं या विचारों पर निर्भर रहता है। कहीं तो वह उसमें ईश्वर के अनिवार्य नियमों का अनुभव करता है और कहीं उसमें क्रूरता, असहिष्णुता, कठोरता आदि के प्रत्यक्ष दर्शन करता है और कहीं उसमें सहानुभूति, सहकारिता और आध्यात्मिकता के तत्त्वों का साक्षात् रूप देखता है। प्रकृति की ये भिन्न-भिन्न भावनाएँ और रूप कवि के स्वभाव के आश्रित रहते हैं। सारांश यह कि वह प्रकृति में अपने स्वभाव का प्रतिबिंब ढूँढ़ता है और उसे उसी रूप में देखकर अपने मनोनुकूल उसका वर्णन करता है।

# प्रेमचन्द

(१८८०–१९३६ ई०)

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कथाकार श्री प्रेमचन्द काशी की विभूति थे। बी० ए० परीक्षा पास करने के उपरान्त आप बहुत दिनों तक अध्यापक रहे। सत्याग्रह आन्दोलन में नौकरी छोड़कर साहित्य-क्षेत्र में आ गए। आरम्भ में आप उर्दू में कहानियाँ लिखा करते थे किन्तु बाद में हिन्दी में लिखने लगे। आप कई पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक भी रहे। इनकी सम्पूर्ण कहानियों का संग्रह 'मानसरोवर' के नाम से कई भागों में प्रकाशित हो चुका है। उपन्यासों के नाम हैं—सेवासदन, वरदान, प्रतिज्ञा, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प, ग़बन, गोदान और मंगल-सूत्र। कुछ नाटक तथा निबन्ध भी आपके द्वारा लिखे गए थे।

प्रेमचन्द ने देश की विविध समस्याओं का अपने कहानियों और उपन्यासों में यथार्थ चित्रण किया और उनका समाधान सुझाया। गाँव का वातावरण तथा ग्रामीणों की मनोवृत्ति, रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-नीति के चित्रण में इन्हें बड़ी सफलता मिली है। मध्यवर्ग का चित्रण भी इन्होंने बहुत अच्छा किया है। इनकी भाषा-शैली की कसौटी है व्यावहारिकता तथा वास्तविकता। हिन्दी-उर्दू के प्रचलित शब्दों के मेल से बनी हुई इनकी भाषा सर्वबोध्य है। किसान पात्रों की बातचीत में देहाती शब्दों तथा मुहावरों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। व्यक्ति एवं परिस्थिति के चित्रण में व्यंग शैली का बड़ा कुशल प्रयोग मिलता है। व्यंग के साथ-साथ यथावसर मार्मिक हास्य की भी झलक मिलती है। वातावरण के बड़े अच्छे चित्र इन्होंने दिए हैं। भावों को मूर्त रूप

स्व० प्रेमचन्द

देने के लिए अलंकारों का भी सहारा लिया गया है। इनके शब्द छोटे-छोटे किन्तु प्रभावपूर्ण होते हैं।

कहानी नामक निबन्ध में प्रेमचन्द ने सीधी-सादी भाषा में, सरल रीति से कहानी कहने की प्रेरक वृत्ति, जीवन में कहानी का स्थान, उत्कृष्ट कहानी के लक्षण आदि का वर्णन किया है। स्वयं कहानीकार होने के नाते कथन में अनुभवजनित सचाई है।

---

प्रेम चन्द
जयशंकर प्रसाद

# कहानी

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है और कथा-साहित्य में सब कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।

इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास आदि से अन्त तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन है, जो सुन्दर है इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर, अहंकार की नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम से अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी, और आप सोचने लगेंगे, 'मनुष्य इतना अमानुष्य है! थोड़े से स्वार्थ के लिए भाई भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजाओं की हत्या कर डालता है'। उसे पढ़कर मन में ग्लानि होती है, आनन्द नहीं, और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती और जो सुन्दर नहीं हो सकती वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है वही सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना, और इसलिए वह सत्य है।

मनुष्य ने जगत् में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है उसी को साहित्य कहते हैं, और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य-जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी न किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है,—अपने ही मनो-रहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है, अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके

उसे आनन्दप्रद बना देता है, इसीलिए, अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए है, साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कहानी या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है। आज से नहीं, आदिकाल से ही। हाँ, आज-कल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में, समय की गति और रुचि के परिवर्तन से, बहुत-कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल-प्रधान होती थी या आध्यात्म-विषयक। उपनिषद् और महाभारत में आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया गया है। बौद्ध जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या हैं? बाइबिल में भी दृष्टांतों और आख्यायिकाओं के द्वारा धर्म के तत्त्व समझाए गए हैं। सत्य इस रूप में आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है।

वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।

मगर, यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ-जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है; मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते,—जब तक कि वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों के पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है, इतना ही नहीं, बल्कि कहानी पढ़कर वह लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं जिन पर साधारणतः सुख-दुख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें श्मशान या क़ब्रिस्तान

में भी सजल नहीं होतीं वे लोग भी उपन्यास के मर्म-स्पर्शी स्थलों पर पहुँच-कर रोने लगते हैं।

शायद, इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच जड़ता का वह पर्दा नहीं होता जो मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है, और अगर हम यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नक़ल का नाम नहीं है।

कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं। उसकी ख़ूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका माप-दंड भी जीवन के माप-दंड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है जब वह वांछनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नहीं है; उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम, कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता—कम से कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है। लेकिन, कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है और परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दुःख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता जब तक कि मानव न्याय-बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदा-लत में अपनी हर एक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रांति है, पर वह भ्रांति जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पच्छिम से ली है। अनेक कारणों से जीवन की अनेक धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक

गई और हमने प्राचीन से जौ-भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं, उनका उल्लंघन करना वर्जित था, अतएव काव्य, नाटक, कथा, किसी में भी हम आगे क़दम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है जब तक कि उसमें कुछ नवीनता न लायी जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य, पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है और वह कोई नई चीज़ चाहता है, चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ या तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गई। पश्चिम प्रगति करता रहा, उसे नवीनता की भूख थी और मर्यादा की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के हर एक विभाग में उसकी इस अस्थिरता की, असंतोष की बेड़ियों से मुक्त हो जाने की, छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रांति मचा दी।

शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं; पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो पर शैली तो बिलकुल ही बदल गई। अलिफ़लैला उस वक्त का आदर्श था, उसमें बहुरूपता वैचित्र्य था, कुतूहल था, रोमान्स था,—पर उसमें जीवन की समस्याएँ न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य रूप में इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ और उपन्यास का उदय हुआ जो कथा और नाटक के बीच की वस्तु है। पुराने दृष्टांत भी रूपान्तरित होकर कहानी बन गए।

मगर सौ बरस पहले यूरोप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्च कोटि के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे, लेकिन छोटी-छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था।

हाँ, परियों और भूतों की कहानियाँ लिखी जाती थीं; किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर या उससे भी कम में समझिए, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अंगों पर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना ग़लत न होगा कि जैसे किसी ज़माने में काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है, और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के न जाने कितने महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बालज़क, मोपाँसाँ, चेखाफ, टालस्टाय, मैक्सिक गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दी में पचीस-तीस साल पहले तक कहानी का जन्म न हुआ था। परन्तु आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं जिसमें दो-चार कहानियाँ न हों,—यहाँ तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही दी जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आज-कल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह ज़माना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने-ख़याल' लेकर बैठ जायँ और सारे दिन उसी की कुंजों में विचरते रहें। अब तो हम जीवन-संग्राम में इतने तन्मय हो गए हैं कि हमें मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता; अगर कुछ मनोरंजन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य अठारह घण्टे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरंजन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है; हम चाहते हैं कि थोड़े से थोड़े समय में अधिक से अधिक मनोरंजन हो जाय, इसीलिए सिनेमा-गृहों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते उसका आनन्द हम दो घण्टों में उठा लेते हैं, कहानी के लिए पंद्रह-बीस मिनट ही क़ाफ़ी हैं अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पावे; उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अंत तक हमें मुग्ध किए रहे, और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो; कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्वहीन कहानी से

मनोरंजन भले ही हो जाय, पर मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है जिसमें इन दोनों में से, मनोरंजन और मानसिक तृप्ति में से—एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुःखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं न कहीं देवता अवश्य छिपा होता है—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका-लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है,—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंक तैयार हो जाता है, उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न मनुष्य को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है, हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होने-वाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धांतों की हत्या कर डाले? कितना भीषण द्वन्द्व है। पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की संपत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा

माँगते देखकर क्या छली भाई को जरा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है, मगर कहानी में बहुत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनन्द आता है जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलनेवालों को जो उन्माद और उल्लास होता है वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उस कहानी में आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

पाठकों से यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनों में हिन्दी कहानी-कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बंगला कहानियों का नमूना था। अब हम संसार के सभी प्रमुख कहानी-लेखकों की रचनाएँ पढ़ते हैं, उन पर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण-दोष निकालते हैं, और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी कहानी-लेखकों में विषय, दृष्टि-कोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है,—कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी ज़मीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदय--स्पर्शी चित्रण है। इस एक तथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें

व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गई है। लेखक को जो कुछ कहना है वह कम से कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा कर देता है। कभी-कभी तो संभाषणों में एक-दो शब्दों से ही काम निकाल लेता है। ऐसे कितने ही अवसर होते हैं जब पात्र के मुँह से एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावों का पूरा अनुमान कर लेते हैं,—पूरे वाक्य की ज़रूरत ही नहीं रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास में नहीं लगाते, हम चाहते हैं, पात्रों की गति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। घटनाओं का स्वतंत्र कोई महत्त्व ही नहीं रहा। उनका महत्त्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है, उसी तरह जैसे शालिग्राम स्वतंत्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है। खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौंदर्य नहीं है, वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौंदर्य की झलक हो, और उसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

———

# रामचन्द्र शुक्ल

(१८८४–१९४१ ई०)

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक एवं निबन्धकार आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल का जन्म बस्ती जिले में हुआ था। एफ० ए० पास करने के उपरान्त आप मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक हो गए थे। इनके लेखों ने विद्वानों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया और सन् १९०८ में आप हिन्दी शब्दसागर के सहकारी सम्पादक नियुक्त किए गए। आठ या नौ वर्षों तक शुक्लजी नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक भी रहे। इसके पश्चात् हिन्दू विश्वविद्यालय, में हिन्दी के प्रोफेसर तथा बाद में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य करते रहे।

शुक्लजी बड़ी ही गंभीर प्रकृति के सरस हृदय व्यक्ति थे। प्रकृति के नाना रूपों में इनका मन खूब रमता था। कवि, निबन्धकार तथा आलोचक रूप में आपने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आपकी कीर्ति का स्थायी स्मारक है। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी हुई आपकी आलोचनाएँ आज भी सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं। 'चिन्तामणि' में विविध विषयों पर लिखे गए आपके लेख संगृहीत हैं। 'हृदय का मधुर भार' नाम से आपकी जो कविताएँ निकलीं उनसे आपकी भावप्रवणता का अच्छा परिचय मिलता है।

गम्भीरता, सहृदयता, संयम और मर्यादावादिता ये ही शुक्लजी के व्यक्तित्त्व के प्रधान पक्ष हैं और उनकी गद्यशैली में उनका व्यक्तित्त्व पूरी तरह प्रतिबिम्बित हुआ है। हिन्दी में चिन्तनप्रधान एवं आलोचनात्मक साहित्य का आरम्भ इन्हीं से समझना चाहिए। शुक्लजी के छोटे-छोटे वाक्यों में भी अर्थ-परम्परा कसी रहती है। लम्बे वाक्यों के प्रत्येक शब्द माला की गुरियों की तरह सुन्दरता के साथ पिरोए होते हैं और उनमें कहीं तनिक भी शिथिलता नहीं होती। एक शब्द को भी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

जन्म सं० १९४१ ] [ निधन सं० १९९७
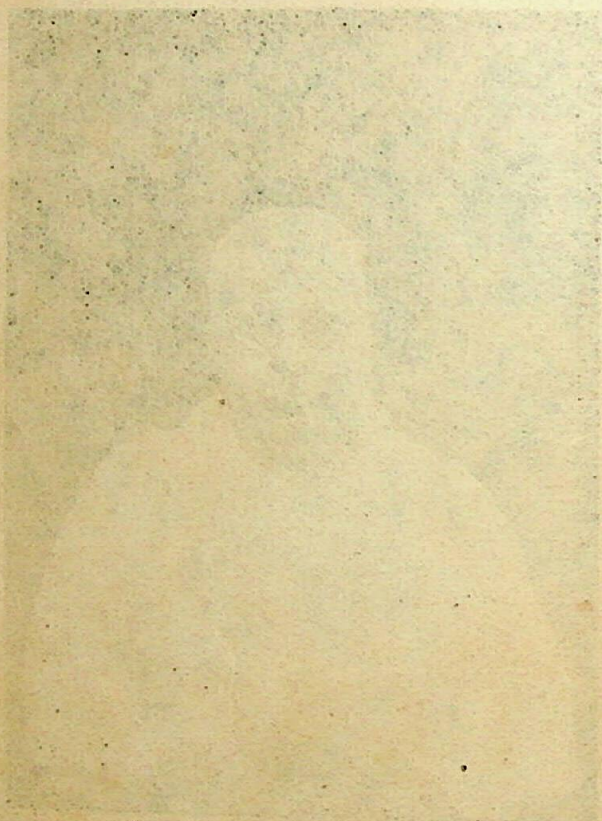
घटाने-बढ़ाने से वाक्य का सौकर्य जाता रहता है। शुक्लजी का व्यंग बड़ा ही मार्मिक एवं चुटीला होता है। आप जितनी सुगमता से अपनी बात का प्रतिपादन एवं समर्थन कर सकते हैं उतनी ही सुगमता से प्रतिपक्षी के तर्कों को व्यर्थ भी सिद्ध कर देते हैं। शुक्लजी की खिजलाहट में भी एक अपूर्व सौन्दर्य होता है। भाषा में अधिकतर संस्कृत के तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए हैं किन्तु अवसरानुकूल बोलचाल के शब्द भी ऐसी कुशलता से व्यवहृत हुए हैं कि उनकी व्यंजकता बढ़ गई है। व्यंग के छींटे छोड़ने के लिए आपने कहीं-कहीं उर्दू के तत्सम शब्दों एवं मुहावरों का अपूर्व प्रयोग किया है। सामान्यतः भाषा में मुहावरों और कहावतों का बहुत कम प्रयोग मिलता है।

'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक निबन्ध से प्रस्तुत पाठ अवतरित किया गया है। इसमें शुक्लजी ने बड़ी सहृदयता के साथ यह प्रतिपादित किया है कि देश की प्राकृतिक विभूति से अनुराग ही सच्चा देशप्रेम है। इस लेख में शुक्लजी की शैली की प्रायः सभी विशेषताएँ देखने को मिल जाती हैं। भाव, विचार तथा वर्णन का इसमें अपूर्व सामंजस्य है। व्यंग-विनोद और चुटकी के बीच भी गंभीरता बनी हुई है।

———

राम चन्द्र शुक्ला

# सच्चा देश-प्रेम

मनुष्य अपने रति, क्रोध आदि भावों को या तो सर्वथा मार डाले, अथवा साधना के लिये उन्हें कभी-कभी ऐसे क्षेत्र में ले जाया करे जहाँ स्वार्थ की पहुँच न हो, तब जाकर सच्ची आत्माभिव्यक्ति होगी। नये आदर्शवादी 'पुराने गीतों' को छोड़ने को लाख कहा करें, पर जो विशाल-हृदय हैं वे भूत को बिना आत्म-भूत किये नहीं रह सकते। अतीत-काल की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति जो हमारा रागात्मक भाव होता है वह प्राप्त-काल की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति हमारे भावों को तीव्र भी करता है और उनका ठीक-ठीक अवस्थान भी करता है। वर्षा के आरंभ में जब हम बाहर मैदान में निकल पड़ते हैं, जहाँ जुते हुए खेतों की सोंधी महक आती है और किसानों की स्त्रियाँ टोकरी लिये इधर-उधर दिखाई देती हैं, उस समय कालिदास की लेखनी से अंकित इस दृश्य के प्रभाव से—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥

हमारा भाव और भी तीव्र हो जाता है—हमें वह दृश्य और भी मनोहर लगने लगता है।

जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज अपने 'भाव' अंकित कर गये हैं उनके सामने अपने को पाकर मानों हम उन पूर्वपुरुषों के निकट जा पहुँचते हैं, और उसी प्रकार के भावों का अनुभव कर उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सगे बन जाते हैं। वर्तमान सभ्यता ने जहाँ अपना दखल नहीं जमाया है उन जंगलों, पहाड़ों, गाँवों

और मैदानों में हम अपने को वाल्मीकि, कालिदास या भवभूति के समय में खड़ा कल्पित कर सकते हैं, कोई बाधक दृश्य सामने नहीं आता। पर्वतों की दरी-कंदराओं में, प्रभात के प्रफुल्ल पद्म-जाल में, छिटकी चाँदनी में, खिली कुमुदिनी में हमारी आँखें कालिदास, भवभूति आदि की आँखों से जा मिलती हैं। पलाश, इंगुदी, अक्षोट वनों में अब भी खड़े हैं, सरोवरों में कमल अब भी खिलते हैं, तालाबों में कुमुदिनी अब भी चाँदनी के साथ हँसती है, वानीर-शाखायें अब भी झुक-झुककर तीर का नीर चूमती हैं; पर हमारी आँखें उनकी ओर भूलकर भी नहीं जातीं, हमारे हृदय से मानों उनका कोई लगाव ही नहीं रह गया। अग्निमित्र, विक्रमादित्य आदि को अब हम नहीं देख सकते। उनकी आकृति वहन करनेवाला आलोक अब न जाने किस लोक में पहुँचा होगा, पर ऐसी वस्तुयें अब भी हम देख सकते हैं जिन्हें उन्होंने भी देखा होगा। शिप्रा के किनारे दूर तक फैले हुए प्राचीन उज्जयिनी के ढूहों पर सूर्यास्त के समय खड़े हो जाइए, इधर-उधर उठी पहाड़ियाँ कह रही हैं कि महाकाल के दर्शन को जाते हुए कालिदास जी हमें देर तक देखा करते थे; उस समय 'शिप्रा-वात' उनके उत्तरीय को फहराता था। काली शिलाओं पर से बहती हुई वेत्रवती की स्वच्छ धारा के तट पर विदिशा के खंडहरों में वे ईंट-पत्थर अब भी पड़े हुए हैं जिन पर अंगराग लिप्त शरीर और सुगन्ध-धूम से बसे केश-कलापवाली रमणियों के हाथ पड़े होंगे।

बिजली से जगमगाते हुए नये अंगरेज़ी ढंग के शहरों में, धुआँ उगलती हुई मिलों और ह्वाइट-वे-लेडला की दूकान के सामने, हम कालिदास आदि से अपने को बहुत दूर पाते हैं। पर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में हमारा उनका भेद-भाव मिट जाता है, हम सामान्य परिस्थिति के साक्षात्कार द्वारा चिरकाल-व्यापी शुद्ध 'मनुष्यत्व' का अनुभव करते हैं, किसी विशेष-काल-बद्ध मनुष्यत्व का नहीं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि विशेष काल-बद्ध मनुष्यत्व न सही, पर

देश-बद्ध मनुष्यत्व तो यह अवश्य है। हाँ, है। इसी देश-बद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देश-भक्ति या देश-प्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता वह देश-प्रेम का दावा नहीं कर सकता। इस स्वतंत्र सत्ता से अभिप्राय, स्वरूप की स्वतंत्र सत्ता से है; केवल अन्न-धन संचित करने और अधिकार भोगने की स्वतंत्रता से नहीं। अपने स्वरूप को भूलकर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख-समृद्धि प्राप्त की तो क्या? क्योंकि उन्होंने उदात्त वृत्तियों को उत्तेजित करनेवाली बँधी-बँधाई परंपरा से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया, नई उभरी हुई इतिहास-शून्य जंगली जातियों में अपना नाम लिखाया। फ़िलीपाइन द्वीपवासियों से उनकी मर्यादा कुछ अधिक नहीं रह गई।

देश-प्रेम है क्या? प्रेम ही तो है। इस प्रेम का आलंबन क्या है? सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु-पक्षी, नदी, नाले, वन, पर्वत-सहित सारी भूमि। प्रेम किस प्रकार का है? यह साहचर्यगत प्रेम है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ रहता है, सारांश यह है कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। देश-प्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। यदि यह नहीं है तो वह कोरी बकवाद या किसी और भाव के संकेत के लिये गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से सचमुच प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि सबसे प्रेम होगा, वह सबको चाहभरी दृष्टि से देखेगा, वह सबकी सुध करके विदेश में आँसू बहावेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है—जो यह भी आँख-भर नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभ-पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं

झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिये कि 'भाइयों! बिना रूप-परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके दुःख-सुख के तुम कभी साथी नहीं हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह कैसे समझें? उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली में 'अर्थ-शास्त्र' की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब नहीं है। हिसाब-किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेम करनेवाला नहीं। एक अमेरिकन फारसवालों को उनके देश का सारा हिसाब-किताब समझाकर चला गया।

हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान-मात्र हो सकता है। हित-चिंतन और हित-साधन की प्रवृत्ति कोरे ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग या 'भाव' पर अवलम्बित है, उसका सम्बन्ध लोभ या प्रेम से है; जिसके बिना अन्य पक्ष में आवश्यक त्याग का उत्साह हो नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

> नैनन सों 'रसखान' जबै ब्रज के बन, बाग, तड़ाग निहारौं;
> केतिक वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राज-सिंहासन तक त्यागने को तैयार थे; पर देश-प्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों पर रीझकर—या कम से कम न खीझकर—बिना मन मैला किये कमरे का फर्श भी मैला होने देंगे? मोटे आदमियों! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।

पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह परचना परिचय ही है। परिचय प्रेम का प्रवर्त्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिये हृदय में जगह करनी है तो

देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाइये। बाहर निकलिये तो आँख खोलकर देखिये कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, कछारों में चौपायों के झुंड इधर-उधर चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं; उनमें घुसिये, देखिये तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो-दो बातें कीजिये, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आध घड़ी बैठ जाइये और समझिये कि ये सब हमारे देश के हैं। इस प्रकार जब देश का रूप आपकी आँखों में समा जायगा, आप उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जायँगे, तब आपके अंतःकरण में इस इच्छा का सचमुच उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें।

पर आज कल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे छोटा-मोटा जंगल है, जिसमें महुये के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों वहाँ पुरातत्त्व-विभाग का कैम्प पड़ा हुआ था। रात हो जाने से उस दिन हम लोग स्तूप नहीं देख सके; सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसन्त का समय था। महुये चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—"महुओं की कैसी महक आ रही है!" इस पर लखनवी महाशय ने चट मुझे रोककर कहा—"यहाँ महुये-सहुये का नाम न लीजिये, लोग देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो रहा; समझ गया कि महुये का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है। पीछे ध्यान आया कि यह वही लखनऊ है जहाँ कभी यह पूछनेवाले भी थे कि गेहूँ का पेड़ आम के पेड़ से छोटा होता है या बड़ा।

हिन्दूपन की अन्तिम झलक दिखानेवाले थानेश्वर, कन्नौज, दिल्ली,

पानीपत आदि स्थान उनके गंभीर भावों के आलम्बन हैं जिनमें ऐतिहासिक भावुकता है, जो देश के पुराने स्वरूप से परिचित हैं। उनके लिये इन स्थानों के नाम ही उद्दीपन-स्वरूप हैं। इन्हें सुनते ही उनके हृदय में कैसे-कैसे भाव जाग्रत होते हैं वे नहीं कह सकते। भारतेन्दु का इतना ही कहना उनके लिये बहुत है कि—

हाय पंचनद! हा पानीपत!
अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत?
हाय चितौर! निलज तू भारी;
अजहुँ खरो, भारतहिं मँझारी!

पानीपत, चित्तौर, कन्नौज आदि का नाम सुनते ही भारत का प्राचीन हिन्दू-दृश्य आँखों के सामने फिर आ जाता है। उनके साथ गम्भीर भावों का सम्बन्ध लगा हुआ है। ऐसे एक-एक नाम हमारे लिये काव्य के टुकड़े हैं। ये रसात्मक वाक्य नहीं, तो रसात्मक शब्द अवश्य हैं।

———

# गुलाबराय

(जन्म १८८४ ई०)

प्रसिद्ध आलोचक तथा साहित्यसेवी बावू गुलाबराय मैनपुरी के निवासी हैं। आप बहुत दिनों से आगरा के सेण्ट जोन्स कालेज में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। आगरा से ही निकलनेवाले 'साहित्य सन्देश' नामक मासिक पत्र के आप संपादक भी हैं। दर्शन शास्त्र एवं साहित्य दोनों पर ही आपका समान अधिकार है। पत्र-पत्रिकाओं में आपके निबन्ध बराबर निकला करते हैं। हिन्दी गद्य लेखकों में आपका प्रमुख स्थान है। आपकी पुस्तकों में 'नवरस', 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास', 'हिन्दी-नाट्य-विमर्श', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'मेरी असफलताएँ', 'तर्कशास्त्र' तथा 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास' अधिक प्रसिद्ध हैं।

गुलाबरायजी की शैली अधिकतर विचार-प्रधान होती है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। वाक्य बहुत ही सुगठित एवं विचार-परम्परा से पूर्ण होते हैं। समीक्षा सिद्धान्तों पर विचार करते समय अंग्रेजी एवं संस्कृत के उद्धरण देकर अपनी स्थापना का प्रतिपादन करते जाते हैं। शैली गम्भीर होती हुई भी सरल होती है। तथ्यकथन की अधिकता से कहीं कहीं शुष्कता एवं एकरसता भी दृष्टिगोचर होती है।

प्रस्तुत पाठ गुलाबरायजी के 'साहित्य और समीक्षा' नामक ग्रन्थ का एक प्रकरण है। इसमें विद्वान लेखक ने काव्य, विज्ञान और धर्म के भेद का निरूपण किया है। काव्य का सत्य आन्तरिक सत्य—हृदय का सत्य होता है, विज्ञान का सत्य वाह्य सत्य होता है। शिवं तथा सुन्दरं की प्रवृत्ति काव्य को विज्ञान से अलग करती है। सत्यं, शिवं, सुन्दरं विज्ञान, धर्म और काव्य के परस्पर सम्बन्ध का सूत्र है। विषय-विवेचन शैली में गंभीरता के साथ ही स्पष्टता भी है।

Most Important

(५९)

गुलाब राय

# काव्य, विज्ञान और धर्म

काव्य के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका विज्ञान, धर्म और इतिहास से सम्बन्ध जान लेना परम आवश्यक है। साधारणतः काव्य का क्षेत्र विज्ञान, धर्म एवं इतिहास के क्षेत्र से सर्वथा पृथक् दिखलाई पड़ता है। किन्तु उनके दृष्टिकोण और क्षेत्र में मौलिक विभिन्नता होते हुए भी उसमें नितान्त पार्थक्य नहीं है। भेदों का आधार समानता में ही रहता है। किन्तु भेदों का महत्त्व स्वरूप को स्पष्टता और व्यक्तित्व प्रदान करने में है।

दृष्टिकोण भेद—विज्ञान का विषय है, सत्य की खोज। वह केवल सत्य, अनावृत सत्य का अन्वेषण करता है। इस सत्य के विश्लेषण में यदि वस्तु-सौन्दर्य की क्षति भी हो जाय तो विज्ञान के लिए वह पश्चात्ताप का विषय नहीं बनता। उसका सत्य ठोस सत्य है। किन्तु कविता का सत्य सौन्दर्य के आधार पर स्थित होता है। उसका सत्य प्रिय तथा सुन्दर है। काव्य की यही शिवं तथा सुन्दरं की प्रवृत्ति उसे विज्ञान से अलग करती है। जो सत्य है वही शिव है और जो शिव है वही सत्य है; तथा जो सत्य एवं शिव है वह सुन्दर से भिन्न नहीं हो सकता। काव्य का सत्य आन्तरिक सत्य होता है—हृदय का सत्य होता है, और विज्ञान का सत्य बाह्य सत्य होता है।

विज्ञान अपने बाह्य साधनों से जिस वस्तु का जैसा निरीक्षण करता है उसका वैसा ही वर्णन भी करता है। उसका वर्णन इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) होता है। उसमें असुन्दर को सुन्दर तथा अशिव को शिव बनाने की वह स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती जो काव्य को "सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्" से आगे ले जाकर "मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" का पक्षपाती

बना देती है। विज्ञान का झुकाव यथार्थ की ओर होता है और काव्य वस्तु की भित्ति पर खड़ा होकर आदर्श की ओर भी देखता है।

विज्ञान का क्षेत्र चेतनता से रहित निर्जीव एवं निरीह प्रकृति है। वह मानव को भी प्रकृति का एक अङ्ग—भौतिक और प्राणिशास्त्र के नियमों में बँधा हुआ, अस्थि, मज्जा आदि से सुसज्जित मांस का एक पिण्ड मात्र मानता है। किन्तु काव्य का क्षेत्र मानव-हृदय है। उसकी दृष्टि में प्रकृति का भी एक भावनामय स्वरूप है—उसके अपना-सा या उससे कम स्पन्दन-शील हृदय है; वह अपने हर्ष एवं विषाद को सहृदय के सम्मुख व्यक्त करने में तनिक भी संकोच नहीं करता। उसके सम्पूर्ण क्रिया-कलापों में एक गुप्त रहस्य है जो सहृदय के ही हृदयङ्गम करने का विषय है। कवि-कल्पना में नवयौवना गुलाब की कली चटककर मानों भ्रमर को आमन्त्रित करती दिखाई देती है। शिथिल पत्राङ्क में सोती हुई जुही की कली का सौन्दर्य किसी भी विलासिनी के लिए उद्दीपक हो सकता है। अस्तु, वैज्ञानिक के लिए तो कुसुम केवल कार्बन, हाइड्रोजन, लोहा आदि कुछ तत्त्वों का संघात मात्र है, वह उसका विश्लेषण करके उसके स्वाभाविक सौन्दर्य को छिन्न-भिन्न भले ही कर सकता है; किन्तु उसका वह अपूर्व मनोमोहक स्वरूप जो लोकोत्तर आनन्द का प्रतिपादक है उसकी पहुँच से अगम है। वह गुण को भी परिमाण का ही रूपान्तर समझता है।

वैज्ञानिक के लिए जाति प्रधान है व्यक्ति नहीं। साहित्य में व्यक्ति का ही विशेष महत्त्व है। सूर की गोपियाँ कृष्ण को छोड़कर ब्रह्म को भी नहीं चाहतीं।

"ता उर भीतर क्यों निर्गुन आवत जा उर स्याम सुजान"। वे उद्धव से स्पष्ट कह देती हैं :—

"ऊधो ! तुम अति चतुर सुजान।<br>
जे पहिले रंग रंगी श्याम रंग तिन्हैं चढ़ै न रंग आन।<br>
दुइ लोचन जो विरद किए श्रुति गावत एक समान।<br>
भेद चकोर कियो ताहू में, बिधु प्रीतम, रिपु भान॥"

पार्वती की प्रतिज्ञा "वरहुँ शम्भु न तु रहौं कुआँरी" आदि वचन इसी व्यक्तित्व के प्राधान्य के उदाहरण हैं।

समन्वय—फिर क्या विज्ञान और कविता में नितान्त विरोध है? नहीं। जो विरोध है वह इतना ही है जितना समान वस्तुओं में होता है। दोनों ही का वाङ्मय से सम्बन्ध है। दोनों ही मनुष्य के अनुभव की व्याख्या करते हैं। किन्तु दोनों की पद्धति में अन्तर है। पद्धति का भेद होते हुए भी दोनों को कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। दोनों ही में आश्चर्य, चमत्कार, नवीनता, खोजबीन, आनन्द और संलग्नता का कार्य रहता है। दोनों का ही अन्तिम लक्ष्य मनुष्य-जाति का हित-साधन है। फिर विरोध कैसा? जिस प्रकार कवि कल्पना के बिना नहीं चलता उसी प्रकार वैज्ञानिक भी कल्पना बिना पग नहीं रखता। बात-बात पर कल्पना का कार्य है। न्यूटन ने पेड़ से फल गिरते देखा। उसने सोचा जिस प्रकार फल पृथ्वी की ओर आकर्षित हुआ उसी तरह सौर-मण्डल के पिण्ड एक दूसरे की ओर गुरुत्व के परिमाण में आकर्षित होते हैं। वाट ने बटलोई की भाप के द्वारा ढक्कन के दृश्य से अपनी कल्पना के बल पर स्टीम—ऐञ्जिन का निर्माण किया।

जब वैज्ञानिक किसी घटना से आश्चर्य-चकित होता है; तभी वह व्याख्या के लिए कल्पना को दौड़ाता है। जब वह किसी एक सिद्धान्त की कल्पना कर लेता है तभी वह निरीक्षण और प्रयोग द्वारा उसकी पुष्टि के अर्थ सामग्री को खोजता है। कवियों की कल्पनाएँ भी वैज्ञानिकों के नये-नये आविष्कारों में सहायक होती हैं। जो बात कल कल्पनामात्र थी वह आज सत्य हो जाती है। उड़ने की इच्छा पहले कवियों के ही हृदय में जागरित हुई थी। उसको आज विज्ञान ने सफल कर दिया। यदि ये कल्पनाएँ न होतीं तो वायुयान भी न होते। कवि मेघदूत का निर्माण करता है तो वैज्ञानिक विद्युत-दूत का।

कवि संसार की विचित्रता से चकित हो उसमें मानवी भावों का आरोप कर एक प्रकार का भाव-साम्य स्थापित करता है। वैज्ञानिक उस

विचित्रता में व्यापक नियमों की खोज कर एक बौद्ध (बुद्धि-सम्बन्धी) साम्य का परिचय देता है। दोनों ही प्रकृति देवी के उपासक हैं। यदि एक उसके सौन्दर्य-निरीक्षण में मग्न है तो दूसरा उसकी सेवा द्वारा मेवा पाने में प्रयत्नशील रहकर प्राकृतिक नियमों को अपने लाभ का हेतु बनाता है। विज्ञान यद्यपि शुष्क है तथापि उसमें भी उतना ही आनन्द, उतनी ही संलग्नता आ जाती है जितनी कि काव्य में। गगन-मण्डल के तारागणों की गति में वैज्ञानिक एक अनुपम लास्य देखता है, उसी लास्य का लघुतम रूप परमाणुओं के विद्युत्-अणुओं में पाता है। मनुष्य कङ्काल जो वैराग्य का उद्दीपन माना जाता है, वैज्ञानिक के लिए विकास-वाद का रहस्य—जो उसके लिए मुगल सम्राटों के रंगमहलों के रहस्य से भी अधिक रुचिकर होता है, उद्घाटन करता है। वह वीर विजेता की भाँति अम्बर चुम्बित हिमालय के उच्चतम शिखर तक जाने में वीररस के स्थायी उत्साह का पूर्ण परिचय देता है। जो सौंदर्य कवि को फूलों में मिलता है, उसी सौन्दर्य को वह फूलों की जड़ों में भी देखकर परमात्मा की बुद्धिमत्ता की सराहना करता है। यहीं पर धर्म और विज्ञान का भी समन्वय हो जाता है। विज्ञान ने हमको परमात्मा के 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' रूप के दर्शन कराये हैं। गगन-मण्डल के विस्तार को देखकर कल्पना के भी पैर लड़खड़ाने लगते हैं। विज्ञान हमको परमात्मा की महत्ता के साक्षात्कार करने में सहायक होता है। विज्ञान के भव्य भवन, विश्व के नियम और शृंखला-बद्ध होने की आधार-शिला पर खड़े हैं। धर्म के बिना विश्व की नियम-बद्धता का विश्वास दृढ़ नहीं होता। विज्ञान यदि भौतिक बल देता है तो धर्म आध्यात्मिक बल देकर जीवन में आशा का संचार करता है। सच्चा धर्म वैज्ञानिक होगा और सच्चा विज्ञान धार्मिक होगा।

वैज्ञानिक और कवि दोनों ही आश्चर्य-चकित बालक की भाँति सृष्टि का रहस्य जानने की चेष्टा करते हैं। दोनों एक लक्ष्य की ओर जा रहे हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न मार्ग से। एक ने हृदय की तुष्टि की है तो दूसरे ने मस्तिष्क

की। यदि एक ने प्राकृतिक शक्तियों को मनुष्य का हृदय प्रदान कर मानव का सहचर बनाया है, तो दूसरे ने उन शक्तियों का बुद्धि-द्वारा नियन्त्रण कर उनको अपना अनुचर बनाया है। कविता, धर्म और विज्ञान के समन्वय में ही मानव जाति के कल्याण की आशा है। धर्म हमको मानवता का पाठ पढ़ाएगा, कविता उसे ग्राह्य और रुचिकर बनाएगी और विज्ञान उसे क्रियात्मक रूप दे ऐसा वातावरण तैयार करेगा जिसमें सब लोग सुखमय जीवन व्यतीत कर सकें।

**सत्यं, शिवं, सुन्दरम्**—सत्यं, शिवं, सुन्दरम्, विज्ञान, धर्म और काव्य के परस्पर सम्बन्ध का सूत्र है। विज्ञान केवल सत्य की ओर जाता है। शिव उसके लिए गौण है और सुन्दरम् उसके लिए उपेक्षा की वस्तु है। विज्ञान में सत्य के आगे शिवं और सुन्दरं को दब जाना पड़ता है। वैज्ञानिक नग्न सत्य का, वह चाहे जितना भयावह क्यों न हो, एकान्त उपासक है। वह 'बावन तोले पाव रत्ती' सत्य चाहता है। उसके लिए बीभत्सता कुछ अर्थ नहीं रखती। उसने केवल 'सत्यं ब्रूयात्' पढ़ा है, 'प्रियं ब्रूयात्' को वह नहीं जानता। आलङ्कारिकता यदि सत्य के स्वरूप को रेखा मात्र भी बिगाड़ दे, तो उसके लिए वह दोषी हो जाती है। वह सत्य के रूप और प्राण दोनों की रक्षा करता है।

धार्मिक शिवं की ओर जाता है। शिवं में ही उसके लिए सत्य की प्रतिष्ठा है। वह लक्ष्मी का मांगलिक घटों से अभिषेक कराता है, क्योंकि जल जीवन है, कृषि का प्राण है, मानव मांगल्य का संकेत है। जिस प्रकार सरस्वती में सत्यं और सुन्दरम् का समन्वय है उसी प्रकार लक्ष्मी में शिव और सुन्दरम् का सम्मिश्रण है। शिव कल्याण या हित करने के नाते ही महादेव कहलाते हैं। वेदों में 'शिवसङ्कल्पमस्तु' का पाठ पढ़ाया जाता है। धार्मिक कोरे सत्य का उपासक नहीं उसके लिए सत्य मांगलिक रूप धारण करता है। धार्मिक इहलोक की ही रक्षा नहीं करता, वरन् परलोक की भी चिंता करता है। वह आत्मा को परम श्रेयस् की ओर ले जाता है।

साहित्यिक सत्यं शिवं सुन्दरम् तीनों की उपासना करता हुआ सुन्दर को प्राधान्य देता है। वह 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' का पाठ पढ़ाता है। वह हित को मनोहर रूप देता है और सच्चिदानन्द के रूप में सत्, चित्, आनन्द तीनों का आदर करता हुआ रस वा आनन्द को अपना जीवन प्राण समझता है। उसके हृदय में रसात्मक वाक्य का ही मान है।

साहित्यिक के लिए सत्यं शिवं सुन्दरम् में एक-एक विचार की यथाक्रम महत्ता बढ़ती गई है। अब हमको यह देखना है कि वह इन विचारों की किस रूप से पूजा करता है। वह सत्यं को वैज्ञानिक की भाँति अपना धर्म नहीं मानता। वह सत्यं के बाह्य रूप की परवाह नहीं करता, वरन् सत्य की आत्मा की रक्षा करता है। वह शाब्दिक सत्य की रक्षा के लिए उत्सुक नहीं रहता; घटना के सत्य को वह अपनाना अवश्य चाहता है; किन्तु उसे सुन्दरम् के शासन में रखना उसको अभीष्ट है।

जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास अपनी अनन्यता में 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लेहु हाथ' कहकर कृष्ण को राम के रूप में ही देखना चाहते थे, उसी प्रकार कवि 'सत्यं' को भी 'सुन्दरं' के रूप में देखना अपना ध्येय मानता है। इसमें सत्य की अप्रतिष्ठा नहीं। वह सत्य की अवहेलना नहीं करता, वरन् उसको ग्राह्य रूप में देखना पसन्द करता है। ग्राह्य रूप देने की प्रक्रिया में सत्य की यदि कुछ काट-छाँट हो जाय तो वह अपने आदर्श की पूर्ति के अर्थ सत्य की उतनी हानि को शिरोधार्य समझेगा। कवि यद्यपि स्वतन्त्र है, तथापि वह सत्य की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता। उसकी कल्पना से रचे हुए महल चाहे हवाई किले कहलावें किन्तु उनकी आधार-शिला दृढ़ वास्तविकता ही में रहती है। वह सत्यं को सुन्दरं का रूप देने में सीमा से बाहर नहीं जाता। मूल घटना का वह आदर करता है, किन्तु उसकी व्याख्या और कारणों में अन्तर करने की स्वतन्त्रता रखता है। यह केवल इसलिए कि उसके द्वारा वह सैद्धान्तिक सत्य का

उद्‌घाटन करना चाहता है। 'शकुन्तला' में अंगूठी और शाप की कथा कवि-कल्पना है। किन्तु उससे इस सत्य की रक्षा होती है कि दुष्यन्त का-सा प्रेमी हृदय बिना किसी दैवी कारण के अपनी प्रियतमा की केवल राजनीतिक कारणों से अवहेलना नहीं कर सकता। कवि लोग मुँह में सोना डालकर नहीं बैठते। वे विश्वामित्र की-सी नई सृष्टि रचने में भी संकोच नहीं करेंगे; किन्तु वे संगति और सम्भाव्य का अवश्य ध्यान रखेंगे। वे कल्पना के घोड़े को असम्भव के क्षेत्र में नहीं दौड़ाएँगे, पर वे उसका सदा सङ्गति की लगाम से नियन्त्रण करते रहेंगे।

**काव्य और नीति**—यद्यपि आजकल कलावाद अर्थात् कला, कला के लिए ही है (Art for Arts sake) की झोंक में कुछ कविगण सत्यं और शिवं की अवहेलना कर कहते हैं कि काव्य का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं, तथापि यह बात जनता को मान्य नहीं हुई। जनता सुन्दरम् की उपासक है, किन्तु सुन्दरम् को सत्यं और शिवं के अलंकारों से अलंकृत देखना चाहती है। यह बात ठीक है कि सुन्दरम् किसी दूसरे के शासन में नहीं रह सकता और उस पर उसके ही नियम लागू होंगे, तथापि वह मनुष्य की मनोवृत्तियों में विद्रोह नहीं उत्पन्न करेगा। साम्य ही सुन्दरम् का मुख्य लक्षण है। नीति की रक्षा में सुन्दरम् की भी रक्षा है। गंगाजल की भाँति काव्य में पवित्रता और प्यास बुझाने तथा निरोगता प्रदान करने का गुण एक साथ होना चाहिए। सत्काव्य माता के दूध की भाँति तुष्टि और पुष्टि दोनों का विधायक और प्रेम का प्रतीक होता है।

काव्य के उद्देश्य में कहा गया है कि काव्य का उपदेश प्रिया के उपदेश जैसा माधुर्य-मण्डित होता है। यदि कविवर बिहारीलाल मिर्ज़ा राजा जयशाह को लट्ठमार उपदेश देते तो शायद वे उपदेश देने में असफल तो रहते ही, दरबार से भी अनादर के साथ निकाले जाते। किन्तु उनके 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल' वाले दोहे ने जादू का काम किया। साहित्य सुन्दरम् को इसीलिए प्राधान्य देता है कि कला में

विचार के साथ प्रेषणीयता (communicability) का भी भाव लगा रहता है। कवि अपने भाव को संसार तक पहुँचाना चाहता है। उसके पास लोगों के हृदय-द्वार खोलने के लिए सौंदर्य की ही कुंजी है। वह सौन्दर्य का आवेष्टन चढ़ाकर कटु से कटु सत्य को ग्राह्य बना देता है। रवि बाबू की 'चित्रांगदा' की भाँति कविवाणी सौन्दर्य के प्रभाव से मानवरूपी अर्जुन के हृदय में प्रवेश कर उसको अपने गुणों से मुग्ध कर लेती है। इसलिए कवि सौन्दर्य का उपासक है। सौन्दर्य में साम्य और समन्वय की भावना निहित रहती है। सौन्दर्य के साम्य में सत्य और शिव दोनों का सन्निवेश है। सौन्दर्य जितना ही सत्याश्रित और मङ्गलमय होता है उतना ही वह दिव्य कहलाता है। सत्य, शिव और सुन्दर के इसी समन्वय के कारण काव्य देवत्व से प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मानन्द सहोदर रस का स्रष्टा और प्रसारक होता है।

———

स्व० जयशंकर 'प्रसाद'

# जयशंकर प्रसाद

(१८८९–१९३७ ई०)

छायावादी परम्परा के प्रवर्त्तक कवि एवं हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार श्री जयशंकर प्रसाद काशी के निवासी थे। अपने अध्यवसाय से ही इन्होंने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फारसी एवं अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त किया। १७ वर्ष की अवस्था में ही इन पर गृहस्थी का भार पड़ गया और ये साहित्य-साधना के साथ साथ पैतृक व्यवसाय भी चलाने लगे।

प्रसादजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। आपकी विशेषता यह रही है कि कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी सभी क्षेत्रों में नवीन मार्ग का प्रवर्तन किया। गद्य और पद्य के भाण्डार को समान रूप से समृद्ध करने वाला इस युग में प्रसाद जैसा अन्य साहित्यकार नहीं अवतरित हुआ। अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि नाटकों में इन्होंने भारत के उज्ज्वल अतीत का चित्रण किया है। 'आँधी', 'आकाशदीप', 'छाया', 'इन्द्रजाल' आदि कहानी संग्रहों की भावपूर्ण कहानियाँ आदर्श चरित्रों का निर्माण करती हैं। 'कंकाल' और 'तितली' इन दोनों उपन्यासों में वर्त्तमान जीवन की विषमताएँ अंकित हैं। 'कामायनी', 'लहर', 'आँसू' आदि अनुपम काव्य ग्रन्थ हैं।

प्रसादजी की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों की प्रचुरता रहती है। ये शब्द बड़े ही मधुर एवं श्रवण-सुखद होते हैं। ऐतिहासिक नाटकों में ऐसी भाषा प्रयुक्त हुई है जो तत्कालीन संस्कृति एवं वातावरण के उपयुक्त हो। मधुर भावों के लिए रसमय तथा उग्र भावों के लिए ओजमय शब्दों का प्रयोग हुआ है। उपन्यासों की भाषा अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक है। आपके निबन्धों की शैली विचार प्रधान है। संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों की प्रचुरता, व्यावहारिक शब्दों का अभाव, तथा विचारों की गूढ़ता ने इनके निबन्धों की शैली को क्लिष्ट बना दिया है। एक विचार के बाद दूसरा विचार स्वाभाविक क्रम से निकलने नहीं पाता। संस्कृत

तत्समता की धूम होते हुए भी न तो लम्बे वाक्य हैं, न समस्तपद। वाक्य छोटे छोटे और संयत, भाषा परिष्कृत तथा पदावली कोमल है।

प्रस्तुत पाठ प्रसादजी के कला एवं अन्य विषयोंपर लिखे गए निबन्ध संग्रह से अवतरित किया गया है। इसमें विद्वान् लेखक ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि भारत में नाटकों का बीज-वपन वैदिक काल में ही हो गया था और भारत की प्राचीन सभ्यता में यह पूर्ण रूपेण पुष्पित और पल्लवित हुआ था।

——:०:——

जय शंकर प्रसाद

# नाटकों का प्रारम्भ

कहा जाता है कि साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य, तब गीत-काव्य और इसके पीछे महाकाव्य आते हैं; किन्तु प्राचीनतम मंचित साहित्य ऋग्वेद छन्दात्मक है। यह ठीक है कि नित्य के व्यवहार में गद्य की ही प्रधानता है; किन्तु आरम्भिक साहित्य-सृष्टि सहज में कंठस्थ करने के योग्य होनी चाहिये; और पद्य इसमें अधिक सहायक होते हैं। भारतीय वाङ्मय में सूत्रों की कल्पना भी इसीलिए हुई कि वे गद्य-खंड सहज ही स्मृतिगम्य रहें। वैदिक साहित्य के बाद लौकिक साहित्य में भी रामायण तथा महाभारत आदि-काव्य माने जाते हैं। इन ग्रन्थों को काव्य मानने पर लौकिक साहित्य में भी पहले-पहल पद्य ही आये; क्योंकि वैदिक साहित्य में भी ऋचाएँ आरम्भ में थीं। फिर तो इस उदाहरण से यह नहीं माना जा सकता कि पहले गद्य तब गीतिकाव्य फिर महाकाव्य होते हैं।

संस्कृत के आदि-काव्य रामायण में भी नाटकों का उल्लेख है। ये नाटक केवल पद्यात्मक ही रहे हों, ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता। सम्भवतः रामायण-काल के नाटक-संघ बहुत प्राचीन काल से प्रचलित भारतीय वस्तु थे। महाभारत में भी रम्भाभिसार के अभिनय का विशद वर्णन मिलता है। तब इन पाठ्य-काव्यों से नाट्य-काव्य प्राचीन थे, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। भारतके नाट्य-शास्त्र में अमृत-मंथन और त्रिपुरदाह नाम के नाटकों का उल्लेख मिलता है। भाष्यकार पतंजलि ने कंस-वध और बलि-वध नामक नाटकों का उल्लेख किया है। इन प्राचीन नाटकों की कोई प्रतिलिपि नहीं मिलती। सम्भव है, अन्य प्राचीन साहित्य की तरह ये सब नाटक नटों को कंठस्थ रहे होंगे। कालिदास ने भी जिन भास, सौमिल्ल और कविपुत्र आदि नाटककारों का

उल्लेख किया है, उनमें से अभी केवल भास के ही नाटक मिले हैं, जिन्हें कुछ लोग ईसा से कई शताब्दी पहले का मानते हैं। नाटकों के सम्बन्ध में लोगों का यह कहना है कि उनके बीज वैदिक सम्वादों में मिलते हैं। वैदिक काल में भी अभिनय सम्भवतः बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर होते रहे। एक छोटे से अभिनय का प्रसंग सोमयाग के अवसर पर आता है। इसमें तीन पात्र होते थे; यजमान, सोम विक्रेता और अध्वर्यु। यह ठीक है कि यह याज्ञिक क्रिया है, किन्तु है अभिनय-सी ही। क्योंकि सोमरसिक आत्मवादी इन्द्र के अनुयायी इस याग की योजना करते। सोम राजा का क्रय समारोह के साथ होता। सोम राजा के लिये पाँच बार मोल-भाव किया जाता। सोम बेचने वाले प्रायः वनवासी होते थे। उनसे मोल-भाव करने में पहले पूछा जाता :—

'सोम-विक्रयी ! सोम राजा बेचोगे ?'

'बिकेगा।'

'तो लिया जायगा।'

'ले लो।'

'गौ की एक कला से उसे लूंगा।'

'सोम राजा इससे अधिक मूल्य के योग्य हैं।'

'गौ भी कम महिमा वाली नहीं। इसमें मट्ठा, दूध, घी सब है। अच्छा आठवाँ भाग ले लो।'

'नहीं सोम राजा अधिक मूल्यवान् हैं।'

'तो चौथाई लो।'

'नहीं और मूल्य चाहिये।'

'अच्छा आधी ले लो।'

'अधिक मूल्य चाहिये।'

'अच्छा पूरी गौ ले लो भाई।'

'तब सोम राजा बिक गये; परन्तु और क्या दोगे? सोम का मूल्य समझकर और कुछ दो।'

'स्वर्ण लो, कपड़े लो, छाग लो, गाय के जोड़े, बछड़े वाली गौ, जो चाहो सब दिया जायगा।'

(यह मानो मूल्य से अधिक चाहने वाले को भुलावा देने के लिये अध्वर्यु कहता।)

फिर जब बेचने के लिये वह प्रस्तुत हो जाता तब सोम-विक्रेता को सोना दिखला कर ललचाते हुए निराश किया जाता। यह अभिनय कुछ काल तक चलता। सूत्र की टीका में कहा गया है कि उस जंगली को छका कर फिर वह सोना अध्वर्यु यजमान के पास रख देता; और उसे एक बकरी दी जाती। सम्भवतः सोना भी उसे दे दिया जाता। तब सोम-विक्रेता यजमान के कपड़ों पर सोम डाल देता। सोम मिल जाने पर यजमान तो कुछ जप करने बैठ जाता। जैसे अब उससे सोम के झगड़े से कोई सम्बन्ध नहीं। सहसा परिवर्तन होता। सोम-विक्रेता से सहसा सोना छीन कर उसकी पीठ पर कोड़े लगा कर भगा दिया जाता। इसके बाद सोम राजा गाड़ी पर घुमाये जाते। फिर सोम रस के रसिक आनन्द और उल्लास के प्रतीक इन्द्र का आवाहन किया जाता।

देवासुर संग्राम के बाद इन्द्र-ध्वज के महोत्सव पर देवताओं के द्वारा नाटक का आरम्भ हुआ। भरत ने नाट्य के साथ नृत्त का समावेश कैसे किया, इसका भी उल्लेख किया है। कदाचित् पहले अभिनयों में—जैसा कि सोमयाग प्रसंग पर होता था—नृत्त की उपयोगिता नहीं थी; किन्तु वैदिककाल के बाद जब आगमवादियों ने रस-सिद्धान्तवाले नाटकों को अपने व्यवहार में प्रयुक्त किया तो परमेश्वर के ताण्डव के अनुकरण में उनकी संवर्धना के लिए नृत्य में उल्लास और प्रमोद की पराकाष्ठा देखकर नाटकों में इसकी योजना की।

परमेश्वर को विश्वनृत्त की अनुभूति के द्वारा नृत्त को उसीके अनुकरण में आनन्द का साधन बनाया गया। भरत ने लिखा है कि त्रिपुर-दाह के अवसर पर शंकर की आज्ञा से तांडव की योजना इसमें की गई। इन बातों से निष्कर्ष यह निकलता है कि नृत्त जो पहले बिना गीत का होता था, उसमें गीत और अभिनय की योजना पीछे से हुई। और इसे तब नृत्य कहने लगे। इनका और भी एक भेद है। शुद्ध नृत्त में रेचक और अंगहार का ही प्रयोग होता था। गान वाद्य तालानुसार भौंह, हाथ, पैर और कमर का कम्पन नृत्य में होता था। तांडव और लास्य नाम के इसके दो भेद और हैं। कुछ लोग समझते हैं कि तांडव पुरुषोचित और उद्धत नृत्य को ही कहते हैं, किन्तु यह बात नहीं, इसमें विषय की भी विचित्रता है। तांडव नृत्य प्रायः देव-सम्बन्ध में होता था, और लास्य अपने विषय के अनुसार, लौकिक तथा सुकुमार होता था। नाट्य-शास्त्रों में लास्य के जिन दस अंगोंका वर्णन किया गया है वे प्रयोग में ही भिन्न नहीं होते थे, किन्तु उनके विषयों की भी भिन्नता होती थी। इस तरह नृत्त, नृत्य, तांडव और लास्य प्रयोग विषय के अनुसार चार तरह के होते थे। नाटकों में इन सब भेदोंका समावेश था। ऐसा जान पड़ता है कि आरम्भ में नृत्त की योजना पूर्व रंग में देव-स्तुति के साथ होती थी। अभिनय के बीच-बीच में नृत्य करने की प्रथा भी चली, अत्यधिक गीत-नृत्यके लिए अभिनय में भरत ने मना भी किया है।

नाटक के साथ नृत्य की योजना ने अति प्राचीन काल में ही अभिनय को सम्पूर्ण बना दिया था। बौद्धकाल में भी यह अच्छी तरह भारत भर में प्रचलित था। विनयपिटक में इनका उल्लेख है कि कीटागिरि की रंगशाला में नर्तकी के साथ मधुर आलाप करने वाले और नाटक देखने वाले प्रश्न-जित् और पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं को प्रव्राजनीय दण्ड मिला और वे विहार से निर्वासित कर दिये गये।

रंगशाला के आनन्द को दुःखवादी भिक्षु निन्दनीय मानते थे। यद्यपि गायन और नृत्य प्राचीन वैदिक काल से ही भारत में थे किन्तु अभिनय के साथ इनकी योजना भी भारत में प्राचीन काल से ही हुई थी। इसीलिये यह कहना ठीक नहीं कि भारत में अभिनय कठपुतलियों से आरम्भ हुआ, और न तो महावीरचरित ही छाया नाटक के लिये बना। उसमें, तो भवभूति ने स्पष्ट ही लिखा है—'ससंदर्भो अभिनेतव्यः।' कठपुतलियों का भी प्रचार सम्भवतः पाठ्य-काव्य के लिए प्रचलित किया गया था। एक व्यक्ति काव्यका पाठ करता था और पुतलियों के छाया चित्र उसीके साथ दिखलाये जाते थे। मालावार में अब भी कँवर के रामायण का छाया नाटक होता है। कठपुतलियों से नाटक आरम्भ होने की कल्पना का आधार सूत्रधार शब्द है। किन्तु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का ही प्रयोग सूत्रधार और सूत्रात्मा जैसे शब्दोंमें मानना चाहिये। जिसमें अनेक वस्तु ग्रथित हों और जो सूक्ष्मता से सबमें व्याप्त हो उसे सूत्र कहते हैं। कथावस्तु और नाटकीय प्रयोजन के सब उपादानों का जो ठीक-ठीक संचालन करता हो वह सूत्रधार आजकल के डाइरेक्टर की ही तरह का होता था।

सम्भव है पटाक्षेप और जवनिका आदि के सूत्र भी उसी के हाथ में रहते हों। सूत्रधार का अवतरण रंगमंच पर सबसे पहले रंगपूजा और मंगलपाठ के लिये होता था। कथा या वस्तु की सूचना देने का काम स्थापक करता था। रंगमंच की व्यवस्था आदि में यह सूत्रधार का सहकारी रहता था। किन्तु नाटकों में "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" से जान पड़ता है कि पीछे लाघव के लिये सूत्रधार ही स्थापक का काम करने लगा।

हाँ, अभिनवगुप्त ने गद्य-पद्य मिश्रित नाटकों के अतिरिक्त राग काव्य का भी उल्लेख किया है। राघव विजन और मारीच-वध नाम के राग-काव्य ठक्क और ककुभ राग में कदाचित् अभिनय के साथ वाद्य ताल के अनुसार गाए जाते थे। वे प्राचीन राग-काव्य ही आजकल की भाषा में गीति-नाट्य

कहे जाते हैं। इस तरह अति प्राचीन काल से ही नृत्य अभिनय से सम्पूर्ण नाटक और गीति-नाट्य भारत में प्रचलित थे। वैदिक, बौद्ध तथा रामायण और महाभारत काल में नाटकों का प्रयोग भारत में प्रचलित था।

Most Important

---
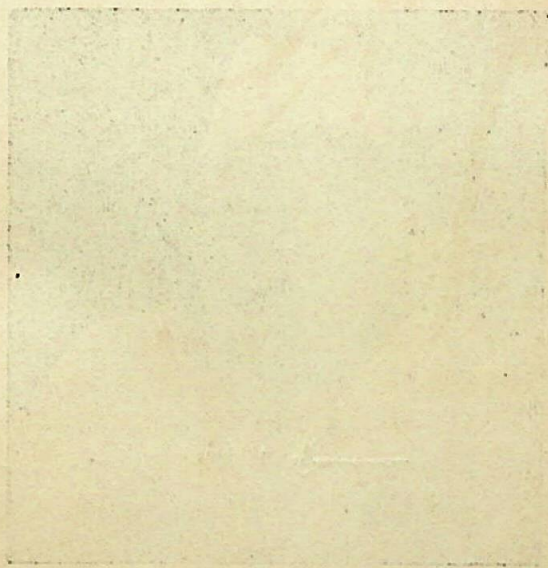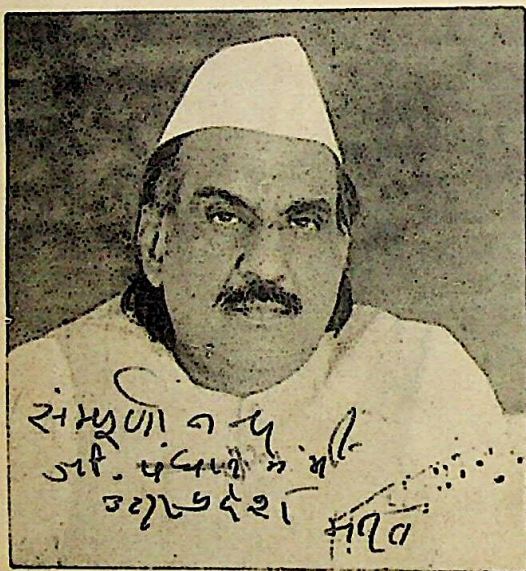
**माननीय सम्पूर्णानन्द**

# सम्पूर्णानन्द

( जन्म १८९१ ई० )

काशी के प्रसिद्ध नेता श्री सम्पूर्णानन्द जी भारतीय इतिहास और संस्कृति तथा समाजवाद के गंभीर अन्वेषक हैं। वर्षों तक अनेक स्थानों में अध्यापक रहने के उपरान्त आप काशी विद्यापीठ आए और वहुत दिनों तक वहाँ प्राध्यापक रहे। सन् १९२० से देश को स्वतन्त्र कराने के जितने आन्दोलन हुए सम्पूर्णानन्द जी उनमें सक्रिय भाग लेते रहे और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल वनने पर शिक्षा मंत्री के रूप में प्रान्तीय शासन में योग दे रहे हैं। लोकसेवा की व्यस्तता के वीच भी आप सदैव साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर लेख तथा पुस्तकें लिखते रहे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं— अंतर्राष्ट्रीय विधान, समाजवाद, व्यक्ति और राज, आर्यों का आदिदेश, श्रीगणेश, तथा चिद्विलास।

सम्पूर्णानन्द जी मौलिक विचारक हैं। समाज-व्यवस्था, राजनीति, धर्म, साहित्य और शिक्षा आदि से सम्वन्धित विषयों पर आपने गम्भीरतापूर्वक मनन किया है और कुछ निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। आपकी शैली में इस मननशीलता की छाया है। कथन में विवेक और संयम के साथ ही साथ स्पष्टवादिता है। भाषा संस्कृतनिष्ठ, परिमार्जित और सुलझी हुई है। वाक्य संगठित तथा सशक्त होते हैं। पांडित्यपूर्ण और गंभीर होते हुए भी शैली पाठकों को साथ लेकर चलती है। कहीं कहीं उसमें भाषणों कासा ओज दिखाई पड़ता है।

प्रस्तुत निवन्ध 'भाषा की शक्ति' नामक निवन्ध-संग्रह से लिया गया है। इसमें शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य एवं शिक्षकों के कर्तव्य पर विचार किया गया है। लेखक के अनुसार शिक्षा को जीवन के पुरुषार्थ के अनुरूप होना चाहिए। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह विद्यार्थी को इस पुरुषार्थ की प्राप्ति के योग्य वनाए।

---

५

Most Important

# शिक्षा का उद्देश्य

अध्यापक और समाज के सामने सबसे बड़ा प्रश्न है—शिक्षा किस लिये दी जाय ? शिक्षा का जैसा उद्देश्य होगा, तदनुसार ही पाठ्य विषयों का चुनाव होगा। पर शिक्षा का उद्देश्य स्वतन्त्र नहीं है। वह इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य—मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ क्या है? मनुष्य को उस पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है पर दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह थोड़े से विद्यार्थियों का पाठ्य-विषय मात्र नहीं है। प्रत्येक समाज को एक दार्शनिक मत स्वीकार करना होगा। उसी के आधार पर उसका राजनैतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का व्यूह खड़ा होगा। जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकरायेंगे। जो बात एक क्षेत्र में ठीक जँचेगी वही दूसरे क्षेत्र में अनुचित कहलायेगी और मनुष्य के लिये अपना कर्तव्य स्थिर करना कठिन हो जायगा। इसका तमाशा आज दीख पड़ रहा है। चोरी करना बुरा है पर पराये देश का शोषण करना बुरा नहीं है। झूठ बोलना बुरा है पर राजनैतिक क्षेत्र में सच बोलने पर अड़े रहना मूर्खता है। घरवालों के साथ, देशवासियों के साथ और परदेशियों के साथ बर्ताव करने के लिये अलग-अलग आचारावलियाँ बन गई हैं। इससे विवेकशील मनुष्य को कष्ट होता है, वह पग-

पग पर धर्म-संकट में पड़ जाता है कि क्या करूँ। कल्याण इसी में है कि खूब सोच विचार कर एक व्यापक दार्शनिक मत अंगीकार किया जाय और फिर उसे सारे व्यवहार की नींव बनाया जाय। यह असंभव प्रयत्न नहीं है। प्राचीन भारत ने वर्णाश्रम धर्म इसी प्रकार स्थापित किया था। वर्तमान काल में इसने मार्क्सवाद को अपने राष्ट्रीय जीवन की सभी चेष्टाओं का केन्द्र बनाया है। ऐसा करने से सभी उद्योग एक सूत्र में बँध जाते हैं और आदर्शों और कर्त्तव्यों के टकराने की संभावना बहुत ही कम हो जाती है।

इस निबन्ध में दार्शनिक शास्त्रार्थ के लिये स्थान नहीं है। मैं यहाँ इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी समझ में भारतीय संस्कृति ने पुरा काल में अपने लिये जो आधार ढूँढ़ निकाला था, वह अब भी वैसा ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसका संश्रय शाश्वत है।

आत्मा अजर और अमर है। उसमें अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनंद का भंडार है। अकेले ज्ञान कहना भी पर्याप्त हो सकता है, क्योंकि जहाँ ज्ञान होता है वहीं शक्ति होती है, और जहाँ ज्ञान और शक्ति होते हैं वहाँ आनन्द भी होता है। परन्तु अविद्यावशात् वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इसी से अपने को अल्पज्ञ पाता है। अल्पज्ञता के साथ साथ अल्प शक्तिमत्ता आती है और इनका परिणाम दुःख होता है। भीतर से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कुछ खोया हुआ है परन्तु यह नहीं समझ में आता कि क्या खो गया है। उस खोई हुई वस्तु, अपने स्वरूप की निरन्तर खोज रहती है। आत्मा अनजान में भटका करता है, कभी इस विषय की ओर दौड़ता है कभी उसकी ओर, परन्तु किसी की प्राप्ति से तृप्ति नहीं होती; क्योंकि अपना स्वरूप इन विषयों में नहीं है। जब तक आत्मसाक्षात्कार न होगा, तब तक अपूर्णता की अनुभूति बनी रहेगी और आनन्द की खोज जारी रहेगी। इस खोज में सफलता, आनन्द की प्राप्ति, अपने परम ज्ञानमय स्वरूप में स्थिति यही मनुष्य का पुरुषार्थ, उसके जीवन का चरम लक्ष्य है और उसको इस पुरुषार्थ साधनके योग्य बनाना ही शिक्षा

का उद्देश्य है। वही राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था सबसे अच्छी है जिसमें पुरुषार्थ सिद्धि में सहायता मिल सके। कम से कम बाधायें तो न्यूनतम हों।

आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है। योगाभ्यास सिखाने का प्रबन्ध राज नहीं कर सकता, न पाठशाला का अध्यापक ही इसका दायित्व ले सकता है। जो इस विद्या का खोजी होगा वह अपने लिये गुरु ढूँढ़ लेगा। परन्तु इतना किया जा सकता है—और यही समाज और अध्यापक का कर्तव्य है कि व्यक्ति के अधिकारी बनने में सहायता दी जाय, अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय।

यहाँ पाठ्य-विषयों की चर्चा करना आवश्यक है; वह ब्योरे की बात है। परन्तु चरित्र का विकास ब्योरे की बात नहीं है। उसका महत्व सर्वोपरि है। चरित्र शब्द का भी व्यापक अर्थ लेना होगा। पुरुषार्थ को सामने रखकर ही चरित्र सँवारा जा सकता है। प्रत्येक छात्र की आत्मा अपने को ढूँढ़ रही है पर उसे इसका पता नहीं है। अज्ञानवशात् वह उस आनन्द को, जो उसका अपना स्वरूप है, बाहरी चीजों में ढूँढ़ती है। जब कोई अभिलषित वस्तु मिल जाती है तो थोड़ी देर के लिये सुख का अनुभव होता है परन्तु थोड़ी ही देर के बाद चित्त किसी और वस्तु की ओर जा दौड़ता है, क्योंकि जिसकी खोज है वह कहीं मिलता नहीं। सब इसी खोज में हैं। ऐसी दशा में आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक है। यदि दस आदमी अँधेरी कोठरी में टटोलते फिरेंगे तो बिना टकराये रह नहीं सकते। एक ही वस्तु की अभिलाषा जब दो या अधिक मनुष्य करेंगे तो उनमें अवश्य ही मुठभेड़ होगी। चीज का उपयोग तो कोई एक ही कर सकेगा। इस प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध बढ़ते रहते हैं। ज्ञान और शक्ति की कमी से सफलता कम ही मिलती है। इससे अपने ऊपर ग्लानि होती है, दृश्यमान सुखों के नीचे एक मूक वेदना टीसती रहती है।

यह अध्यापक का काम है कि वह अपने छात्र में चित्त एकाग्र करने

का अभ्यास डाले। एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है। एकाग्रता का उपाय यह है कि छात्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न किया जाय और उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त किया जाय। दूसरे के सुख को देखकर सुखी होना, मैत्री और दुःख देखकर दुःखी होना करुणा है। किसी को अच्छा काम करते देखकर प्रसन्न होना और उसका प्रोत्साहन करना मुदिता और दुष्कर्म का विरोध करते हुए अनिष्टकारी से शत्रुता न करना उपेक्षा है। ज्यों-ज्यों यह भाव जागते हैं त्यों-त्यों ईर्ष्या द्वेष की कमी होती है। निष्काम कर्म भी राग-द्वेष को नष्ट करता है। ये बातें हँसी खेल नहीं हैं परन्तु चित्त को उधर फेरना तो होगा ही, सफलता चाहे बहुत धीरे ही प्राप्त हो। इस प्रकार का प्रयास भी मनुष्य को ऊपर उठाता है। निष्कामिता की कुंजी यह है कि अपना खयाल कम और दूसरों का अधिक किया जाय। आरंभ से ही परार्थसाधन, लोकसंग्रह और जीव सेवा के भाव उत्पन्न किये जायँ। जब कभी मनुष्य से थोड़ी देर के लिये सच्ची सेवा बन पड़ती है तो उसे बड़ा आनन्द मिलता है। भूखे को अन्न देते समय, जलते या डूबते को बचाते समय, रोगी की शुश्रूषा करते समय कुछ देर के लिये उसके साथ तन्मयता हो जाती है, मैं-पर का भाव तिरोहित हो जाता है। उस समय अपने 'स्व' की एक झलक मिल जाती है। मैं-तू के कृत्रिम भेदों के परे जो अपना सर्वात्मक, शुद्ध स्वरूप है, उसको साक्षात्कार हो जाता है। जो जितने ही बड़े क्षेत्र के साथ तन्मयता प्राप्त कर सकेगा, उसको आनन्द और स्वरूप-दर्शन की उतनी ही उपलब्धि होगी। हमारी सुविधा और चरित्र निर्माण के लिये यह तो नहीं हो सकता कि लोग आये दिन डूबा और जला करें या भूख प्यास से तड़पा करें, परन्तु सेवा के अवसरों की कमी भी कभी नहीं होती। सेवा करने में भाव यह न होना चाहिये कि मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, वरन् यह भी इसकी बड़ी कृपा है जो मेरी तुच्छ सेवा स्वीकार कर रहा है। यह भी याद रहे कि सेवा केवल मनुष्य की नहीं जीव-मात्र की करनी है। पशु-पक्षी-कीट-

पतंग के भी स्वत्व होते हैं; उनका भी आदर करना है। चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, संगीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय भी शरीर और इन्द्रियों के वंधन ढीले पड़ गये होते हैं और चित्त आध्यात्मिक जगत में खिंच जाता है। यही बात प्रकृति के निरीक्षण से भी होती है। प्रकृति का उपयोग निकृष्ट कोटि के काव्य में कामोद्दीपन के लिये किया जाता है परन्तु वह शान्त रस का भी उद्दीपन करती है। अध्यापक का कर्तव्य है कि छात्र में सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे। यह स्मरण रखना चाहिये कि सौन्दर्य प्रेम भी निष्काम होता है। जहाँ तक वह भाव रहता है कि मैं इसका अमुक प्रकार से उपयोग करूँ वहाँ तक उसके सौंदर्य की अनुभूति नहीं होती। सौंदर्य के प्रत्यक्ष का स्वरूप तो यह है कि द्रष्टा अपने को भूल कर तन्मय हो जाय।

कहने का तात्पर्य यह है कि छात्र के चरित्र को इस प्रकार विकास देना है कि वह मैं तू के ऊपर उठ सके। जहाँ तक उपयोग का भाव रहेगा, वहाँ तक स्वाम्य की आकांक्षा होगी। यह वस्तु मेरी होकर रहे—इसी में संघर्ष और कलह होता है। परन्तु सेवा और सुकृत में संघर्ष नहीं हो सकता। हम, तुम, सौ आदमी सच बोलें,—धर्माचरण करें, उपासना करें, लोगों के दुःख निवारण करें, इसमें कोई झगड़ा नहीं है। परन्तु इस वस्तु को मैं लूँ या तुम, यह झगड़े का विषय हो सकता है, क्योंकि एक वस्तु का उपयोग एक समय में प्रायः एक ही मनुष्य कर सकता है। गाना हो रहा हो, आकाश में तारे खिले हों, फूलों के सुवास से लदी समीर वह रही हो, इनके सुख को युगवत् हजारों व्यक्ति ले सकते हैं। काव्य-पाठ से मुझको जो आनन्द होता है वह आपके आनन्द को कम नहीं करता। इसीलिये प्राचीन आचार्यों ने धर्म की दीक्षा दी थी। आज भी अध्यापक को, चाहे उसका विषय गणित हो या भूगोल, इतिहास हो या तर्कशास्त्र, अपने शिष्यों में धर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिये। धर्म का तात्पर्य

पूजा-पाठ नहीं है। धर्म उन सब कामों की समष्टि का नाम है जो कल्याण-कारी है। अपना कल्याण समाज के कल्याण से पृथक् नहीं हो सकता। मनुष्य के बहुत से ऐसे गुण हैं जिनका विकास समाज में ही रहकर होता है और बहुत से ऐसे भोग और सुख हैं जो समाज में ही प्राप्त हो सकते हैं। इसलिये समाज को ध्यान में रखकर ही धर्म का आदेश होता है। परन्तु हमारे समाज में केवल मनुष्य नहीं हैं। हम जिस समाज के अंग हैं उनमें देव भी हैं, पशु भी हैं, मनुष्य भी हैं। इन सबका हम पर प्रभाव पड़ता है, सबका हमारे ऊपर ऋण है, इसलिये सबके प्रति हमारा कर्तव्य है। हमको इस प्रकार रहना है—कि हमारे पूर्वज संस्कृति का जो प्रकाश हमारे लिये छोड़ गये हैं उनका लोप न होने पाये—हमारे पीछे आनेवालों तक वह पहुँच जाये। इसलिये हमारे कर्तव्यों की डोर पितरों से लेकर वंशजों तक पहुँचती है। इसी विस्तृत कर्तव्य-राशि को धर्म कहते हैं। आज सब अपने-अपने अधिकारों के लिये लड़ते हैं। इस झगड़े का अन्त नहीं हो सकता। यदि धर्म-बुद्धि जगाई जाय और सब अपने-अपने कर्तव्यों में तत्पर हो जाँय तो विवाद की जड़ ही कट जाय और सबको अपने उचित अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाँय। और लोग हमारे साथ कैसा व्यवहार करते हैं—इसकी ओर कम, और हम खुद औरों के साथ कैसा आचरण करें—इसकी ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

परन्तु इस बुद्धि की जड़ तभी दृढ़ हो सकती है जब चित्त में सत्य के लिये निर्बाध प्रेम हो। सभी शास्त्र इस प्रेम को उत्पन्न कर सकते हैं पर शर्त यह है कि ज्ञान औषध की घूँट की भाँति ऊपर से न पिला दिया गया हो। सत्य को धारण करने के लिये अनुसन्धान और आलोचना की बुद्धि का उद्बोधन होना चाहिये। यह बुद्धि निर्भयता के वातावरण में ही पनप सकती है। अध्यापक को यथाशक्य यह वातावरण उत्पन्न करना है।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अध्यापक को अपने छात्र में कैसा चरित्र विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिये। अच्छे उपाध्याय के निकट

पढ़ा हुआ स्नातक सत्य का प्रेमी और खोजी होगा। उसके चित्त में जिज्ञासा-ज्ञान का आदर होगा और हृदय में नम्रता, अनसूया, प्राणिमात्र के लिये सौहार्द। वह तपस्वी, संयमी और परिश्रमी होगा। सौंदर्य का उपासक होगा और हर प्रकार के अन्याय, अत्याचार और सदाचार का निर्मम विरोधी होगा। धर्म और त्याग उसके जीवन की प्रबल प्रेरक शक्तियाँ होंगी। उसका सदैव यह प्रयत्न होगा कि यह पृथ्वी अधिक सभ्य और संस्कृत हो, समाज अधिक उन्नत हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सब संन्यासी होंगे। गृहस्थ पर धर्म का भार संन्यासी से कम नहीं होता। व्यापार, शासन, कुटुंब के क्षेत्रों में भी धर्म का स्थान है। यह भी दावा नहीं किया जा सकता कि इन लोगों में राग-द्वेष का नितान्त अभाव हो जायगा, कोई दुराचारी होगा ही नहीं। अध्यापक और समाज प्रयत्न-मात्र कर सकते हैं। इस प्रयत्न का इतना परिणाम तो निःसंदेह होगा कि बहुत से लोग ठीक राह पर लग जायँगे और अपने पुरुषार्थ को पहचानने लगेंगे। पथभ्रष्ट भी होंगे, गिरेंगे भी, पर अपनी भूलों पर आप ही पश्चात्ताप करेंगे और इन गलतियों को सीढ़ी बनाकर आत्मोन्नति करेंगे। भूल करना बुरा नहीं है, भूल को भूल न समझना ही बड़ा दुर्भाग्य है।

यह मानी हुई बात है कि अकेला अध्यापक ऐसा मनोभाव नहीं उत्पन्न कर सकता। उसको सफलता तभी मिल सकती है जब समाज उसकी सहायता करे। जिस प्रदेश में कलह मचा रहता हो, जिस समाज में गरीब-अमीर, ऊँच-नीच की विषमता पुकार-पुकार कर द्वन्द्व और प्रतियोगिता को प्रोत्साहन दे रही हो, जिस राष्ट्र की नीति परस्वत्वापहरण और शोषण पर खड़ी हो, उसमें अध्यापक भला क्या करे? जिन घरों में दाल-रोटी का ठिकाना न हो, पिता मद्यप और माता स्वैरिणी हो, बाप-माँ में मार-पीट, गाली-गलौज मची रहती हो, उनके बच्चों को तो पालने ही में मानस-विष दे दिया जाता है। तंग गलियों और गंदे घरों के रहनेवाले, जो छोटे वय से अश्लीलता और अभद्रता में ही पले हैं, सौंदर्य को जल्दी नहीं

समझ पाते। ऐसी दशा में अध्यापक को दोष देना अन्याय है। फिर भी अध्यापक परिस्थितियों को दोष देकर बैठा नहीं रह सकता। उसको तो अपना कर्तव्य-पालन करना ही है, सफलता कम हो या अधिक।

साधारणतः शिक्षक योगी नहीं होता पर उसका भाव वही होना चाहिये जो किसी योगी का अपने शिष्य के प्रति होता है—अनेक शरीरों में भ्रमते हुये आज इसने नर-देह पाई है और मेरे पास छात्र-रूप में आया है। यदि मैं इसको ठीक मार्ग पर लगा सका, इसके चरित्र के यथोचित विकास प्राप्त करने से बल जुगा सका, तो समाज का भला होगा और इसका न केवल ऐहिक, वरन् आमुष्मिक कल्याण होगा। यदि इसे आगे शरीर धारण करना भी पड़ा तो वह जन्म इस जन्म से ऊँचे होंगे। इस समय यह बात-बात में परिस्थितियों से अभिभूत हो जाता है। इसकी स्वतंत्र आत्मा प्रतिक्षण अपने बन्धनों को तोड़ना चाहती है पर ऐसा कर नहीं पाती। यदि इसकी बुद्धि को शुद्ध किया जाय और क्षुद्र वासनाओं से ऊपर उठाया जाय, तो आत्मा परिस्थितियों पर विजय पाने में समर्थ होने लगेगी और इसको अपने ज्ञान-शक्ति-आनन्दमय स्वरूप का आभास मिलने लगेगा। इस प्रकार यह अपने परम पुरुषार्थ को सिद्ध करने का अधिकारी बन सकेगा। इस भावना से जो अध्यापक प्रेरित होगा वह अपने शिष्य के कामों को उसी दृष्टि से देखेगा जिससे बड़ा भाई अपने घुटनों के बल चलनेवाले छोटे-भाई की चेष्टाओं को देखता है। उसकी भूलों को तो ठीक करना ही होगा, परन्तु सहानुभूति और प्रेम के साथ।

यह आदर्श बहुत ऊँचा है, पर अध्यापक का पद भी कम ऊँचा नहीं है। जो वेतन का लोलुप है और वेतन की मात्रा के अनुसार ही काम करना चाहता है उसके लिये इसमें जगह नहीं है। अध्यापक का जो कर्त्तव्य है उसका मूल्य रुपयों में नहीं आंका जा सकता। किसी समय जो शिक्षक होता था वही धर्म-गुरू और पुरोहित भी होता था और जो बड़ा विद्वान और तपस्वी होता था वही इस भार को उठाया करता था। शिष्य को

ब्रह्मविद्या का पात्र और यजमान को दिव्यलोकों का अधिकारी बनाना सबका काम नहीं है। आज न वह धर्म-गुरू रहे न वह पुरोहित। पर क्या हम शिक्षक भी इसीलिये कर्त्तव्यच्युत हो जायँ? हमको तो अपने सामने वही आदर्श रखना चाहिये और अपने को उस दायित्व का बोझ उठाने के योग्य बनाने का निरन्तर अथक प्रयत्न करना चाहिये।

————

## राय कृष्णदास

(जन्म १८९२ ई०)

काशी के प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ राय कृष्णदास जी के पिता भारतेन्दु के फुफेरे भाई थे। ९ वर्ष की छोटी अवस्था में ही आप कविता करने लगे थे। १६ वर्ष की आयु में आपने 'दुलारे रामचन्द्र' नाम का एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया जो अधूरा ही रह गया। बँगला साहित्य का आप के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा और रविबाबू की 'गीतांजलि' के ढंग पर आपने 'साधना' की रचना की। कलाकृतियों का आपका संग्रह 'कला-भवन' के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा का एक अंग था। अब वह काशी विश्व-विद्यालय में चला गया है। आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं—छायापथ, साधना, प्रवाल, अनाख्या तथा सुधांशु।

राय साहब ने भाव-प्रकाशन की एक निराली शैली का निर्माण किया है। कल्पना के सहारे सूक्ष्म अनुभूतियों को रूप देने का आपने सफल प्रयास किया है। गंभीर भावों के चित्रण में भी शैली सरल बनी हुई है, क्योंकि व्यावहारिक भाषा का प्रयोग हुआ है। तत्सम शब्दों के बीच-बीच में बोलचाल के बड़े ही मिठासपूर्ण शब्द मिलते हैं। उर्दू के शब्दों का अधिकतर शुद्ध रूप में ग्रहण किया गया है। मुहावरों के उपयुक्त प्रयोग ने शैली को और भी सरल बना दिया है। वाक्य छोटे-छोटे किन्तु प्रभाव-शाली हैं। भाषा में प्रवाह है। कथन को पुष्ट करने एवं चित्रात्मकता लाने के लिए स्थान-स्थान पर बड़ी सुन्दर उपमाएँ दी गई हैं। इनकी शैली में एक अनोखापन है और उसमें इनका व्यक्तित्त्व पूरी तरह प्रतिबिम्बित हुआ है।

प्रस्तुत गद्यगीत अन्योक्ति पद्धति का अनुसरण करते हैं। सांसारिक व्यापारों के द्वारा लेखक आध्यात्मिक व्यापार तथा परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करता है। मूल भाव समझ जाने पर पाठक को एक विशेष प्रकार का रस मिलने लगता है।

———

# रत्नखंड ×

## (क) स्वयम्

हाट का समय वीत जाने पर मुझे वहाँ जाने की सुध आई। कितनी ही आवश्यक वस्तुएँ लेनी, वेचनी थीं। मैं विकल हो उठा।

अब क्या हो सकता था? संध्या-वेला थी। प्रतीची ने दिन भर के थके-माँदे सूर्य्य का स्वागत किया और उसने उसका आतिथ्य अनुराग से अंगीकार करके विश्राम लिया। सब अपना-अपना काम करके लौट रहे थे, देख-देख कर मैं तड़पने लगा। मेरी दशा बस, वह पक्षी जान सकता है जो बसेरे के लिये अपने घोंसले को नहीं लौट पाता।

अब मेरी कुंडी खटकी। मैंने द्वार खोल तो दिया, पर न जाने क्या बड़बड़ाते हुए।

लो, यह क्या! स्वयं हाट के प्रधान, मुझे जो वस्तुएँ लेनी थीं उन्हें देने तथा जो वेचनी थीं उन्हें लेने के लिये खड़े हैं।

## (ख) आनंद की खोज

आनंद की खोज में मैं कहाँ कहाँ न फिरा? सब जगह से मुझे उसी भाँति कलपते हुए निराश लौटना पड़ा जैसे चंद्र की ओर से चकोर लड़-खड़ाता हुआ फिरता है।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखनेवाला न था और मैं रह रहकर यही बिलखता कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे रहता हूँ, क्या मैं जगत् के बाहर हूँ!

मुझे यह सोचकर अचरज होता कि आनंद-कंद-मूलक इस विश्व-वल्लरी में मुझे आनंद का अणु-मात्र भी न मिले ! हा ! आनंद के बदले मैं रुदन और शोच को परिपोषित कर रहा था।

अंत को मुझसे न रहा गया। मैं चिल्ला उठा—आनंद, आनंद, कहाँ है आनंद ! हाय ! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीवन गँवाया। बाह्य-प्रकृति ने मेरे शब्दों को दुहराया, किंतु मेरी आंतरिक प्रकृति स्तब्ध थी। अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ। पर इसी समय ब्रह्मांड का प्रत्येक कण सजीव होकर मुझसे पूछ उठा—क्या कभी अपने आपमें भी देखा था ? मैं अवाक् था।

सच तो है। जब मैंने—उसी विश्व के एक अंश—अपने आप तक में न खोजा था तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली ? जो वस्तु मैं ही अपने आपको न दे सका वह भला दूसरे मुझे क्यों देने लगे ?

परंतु, यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने आपको न दे सका था वह मुझे अखिल ब्रह्मांड से मिली और जो मुझे अखिल ब्रह्मांड से न मिली थी वह अपने आपमें मिली !

## (ग) प्रमाद

तुम्हें लुभाने के लिये मैं खूब सज-सजाकर घर से बाहर निकला। राजपथ पर भीड़ थी इससे मुझे रुकना पड़ा। लोग मेरी ओर देखने और सजावट की प्रशंसा करने लगे। भला, प्रशंसा किसे पागल नहीं कर देती ? मैं भी अपना प्रकृत उद्देश भूलकर उन्हें अपनी सजावट दिखाने लगा। आनंद से मेरा हृदय नाच रहा था।

यहाँ तक कि अभिमान ने मुझे अंधा बना दिया। तुम भी आकर उसी भीड़ में खड़े हो गए और मुझे देखने लगे, पर मैंने तुम्हें न देखा।

संध्या को भीड़ छँट गई और तुम्हारे दान के बोझ से दबे मँगते लौटने लगे, तब मेरी आँखें खुलीं।

परंतु अब हो क्या सकता था? हाय! इस दिखावे में मैं तुम्हें न देख सका।

## (घ) अभिमान

मैं महाराज की वाटिका में फिर रहा था। देखता क्या हूँ कि एक जन सुमन चुन रहा है। मैंने क्रोध और दर्प से कहा—जानते नहीं, यह महाराज की वाटिका है। यहाँ ऐसा दुःसाहस तुमने कैसे किया? वह बेचारा निरुत्तर हो गया। और, उसके कंपित करों ने उन फूलों को मेरे चरणों पर गिराकर मुझसे क्षमा-सी माँगी। पर मेरा क्रोध शांत न हुआ। मैंने विकृत स्वर में कहा—फिर इधर आने का नाम न लेना। वह चुपचाप चला गया।

वह तो गया, पर मेरा क्रोध न गया। मैं बड़बड़ाता हुआ महाराज की ओर चला। चलने को तो मैं चला, पर उस क्रुद्धावस्था में भी, मेरे हृदय में कोई पूछ रहा था कि तुम भी तो उसी श्रेणी के हो। आज महाराज के कृप-पात्र हो जाने से उसका यह निरादर! महाराज तुम पर मोहित हुए सही, पर तुम्हारे जान-बूझकर कोई हाव-भाव करने से थोड़े ही। तुम भी तो कुछ ऐसा ही ऊत-सूत करते थे। महाराज ने उसमें न जाने कौन-सी अदा देखी कि तुम्हें अपना लिया। किंवा, तुम डरते हो कि तुम्हारा पद न छिन जाए, अतः यह सारी लीला कर रहे हो। मैंने कुछ ध्यान न दिया। कहा—उँह, यह तो हृदय-दौर्बल्य है।

क्रोध का भार न सँभाल सकने से मैं लड़खड़ाता हुआ उन तक पहुँचा।

किंतु, मुझे काटो तो ख़ून नहीं। मैं निष्प्राण, पाषाण-प्रतिमा की भाँति वहीं निश्चल रह गया। अरे, यह तो वही उस वेश में वहाँ गए थे, अब यहाँ बैठे हैं!

पर वे निराकुल थे। सरल, सस्मित भाव से उन्होंने कहा—अच्छे रहे! एक तुच्छ परिहास भी न समझ सके!

---

## पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

(जन्म १८९४ ई०)

प्रसिद्ध आलोचक तथा निवन्धकार श्री वख्शी मध्यप्रदेश के निवासी हैं। आप वड़े ही भावुक साहित्यकार तथा सहृदय समीक्षक हैं। साहित्य-सेवा से विश्राम लेते समय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन का भार वख्शी जी पर ही छोड़ा। अनेक वर्षों तक प्रयाग में रहकर वख्शी जी इस पत्रिका का वड़ी योग्यता के साथ सम्पादन करते रहे। अंग्रेजी साहित्य के विस्तृत अध्ययन ने इनमें आधुनिक समीक्षा-पद्धति के प्रति रुचि उत्पन्न की और वे नए ढंग पर छायावादी तथा रहस्य-वादी कवियों की समीक्षा करते रहे। वख्शी जी के निवन्धों के कई संग्रह निकल चुके हैं। इनके नाम हैं:—'पंचपात्र', 'तीर्थरेणु', 'प्रवन्ध पारिजात', 'कुछ', 'और कुछ' प्रमुख हैं। 'हिन्दी साहित्य विमर्श' तथा 'विश्व-साहित्य' नामक दो आलोचना ग्रन्थ हैं।

वख्शी जी की शैली पर उनके अध्ययन एवं चिन्तन की स्पष्ट छाप है। छोटे छोटे वाक्यों में वात को सीधे-सादे ढंग से कह देना वख्शी जी खूव जानते हैं। उनके निवन्धों में अनुभूति की सचाई और हार्दिकता है। वाक्य छोटे छोटे किन्तु प्रभावपूर्ण होते हैं। शब्द संस्कृत के तत्सम किन्तु परिचित और श्रुति सुखद हैं। शैली में भाव और विचार के सम्मिश्रण की छाप है। आपके निवन्ध प्रायः व्यक्तिगत अनुभूतियोंसे ही प्रेरित होते हैं।

प्रस्तुत निवन्ध के शीर्षक से ऐसा लगता है कि यह विषयनिष्ट होगा किन्तु है यह व्यक्तिनिष्ठ। लेखक ने प्रकृति के सहज सौन्दर्य में स्नेह, सहानुभूति एवं कला के दर्शन किए और अभावमय जीवन की कुरूपता में

हिंसा और वासनाओं की आँधी देखी। जीवन में भी जब प्रेम की तरंगें उठें, सहयोग और सहानुभूति की भावना जगे तो कुरूपता के स्थान पर सौन्दर्य एवं कला के दर्शन हो सकते हैं। शैली वर्णनात्मक एवं भावप्रधान है। निबन्ध में सर्वत्र रागात्मकता है। बख्शी जी का सरस व्यक्तित्व पूरी तरह इस निबन्ध में प्रतिफलित हो उठा है।

———

# कला और जीवन

रात में कितनी ही दुश्चिन्ताओं को लेकर मैं सोने गया था। किसी का तिरस्कार, किसी की अवज्ञा, किसी का अपमान—यही सोचते-सोचते मैं सो गया था। एक तो दिन में सूर्य के ताप से हम लोग यों ही सन्तप्त हो जाते हैं। फिर कार्य की व्यग्रता के साथ यदि किसी तरह का मानसिक कष्ट हुआ, तो उद्वेग और भी अधिक हो जाता है। रात में भी दुःस्वप्न होते हैं। पर उस दिन जब मैं सोकर उठा, तब मुझे न कोई चिन्ता थी, न कष्ट। खूब वर्षा हो रही थी। वर्षा-ऋतु में मेघों की श्याम घटा आपसे आप मनमें औत्सुक्यपूर्ण भावों की एक घटा ला देती है। पवन की चञ्चल गति मन को अस्थिर कर देती है। जल की तरंगें हृदय में भावों की तरंगें उत्पन्न कर देती हैं। उस दिन जब मैं प्रातःकाल सोकर उठा, तब मेरे भी मन में एक उमंग-सी उठ रही थी। मैं एक अनिर्वचनीय भाव से पुलकित हो उठा। मुझे ऐसा जान पड़ा कि मैं शान्ति, सुषमा और आनन्द के एक अलसित राज्य में प्रविष्ट हो गया हूँ। मैं खिड़की खोल-कर प्रकृति की शोभा देखने लगा। वर्षा के उल्लास में प्रकृति की अपूर्व छटा हो जाती है। नदी कितनी उमंग से बह रही थी। वह मानो अपने आनन्द के वेग को रोक नहीं सकती थी। हरे-हरे वृक्ष, हरी-हरी लताएँ और हरी-हरी भूमि—सभी प्रफुल्ल प्रतीत होते थे। जैसे अब किसी के लिए कोई ताप नहीं, कोई बाधा नहीं। सभी ओर स्वच्छन्दता का साम्राज्य हो गया था। रह-रहकर बिजली चमक उठती थी, बादल गरज उठता था और पवन के जल-मिश्रित झोंके आ जाते थे। मैं भी अकारण अपनी सारी चिन्ताएँ छोड़कर पद्माकर का एक कवित्त पढ़ने लगा:—

चञ्चल चमाकैं चहुँ ओरन ते चाय-भरी,
चरजि गई थी फेरि चरजन लागी री।
कहै पद्माकर लवंगन की लोनी लता,
लरजि गई थी फेरि लरजन लागी री।
कैसे धरौं धीर वीर त्रिविध समीर तन,
तरजि गई थी फेरि तरजनि लागी री।
घुमड़ि घमण्ड घटा घन की घनेरे आवे,
गरजि गई थी फेरि गरजन लागी री॥

यही तो जीवन का रस है, यही तो जीवन की कला है, यही तो जीवन की आनन्दमयी स्थिति है। प्रकृति के राज्य में सदैव यौवन का उल्लास रहता है। वहाँ वार्धक्य की चिन्ता नहीं रहती। वहाँ चिर-वैचित्र्य है, चिर-नवीनता है, चिर-सौंदर्य है। तभी तो प्रकृतिके साहचर्य में रहकर कवि अक्षय सौन्दर्य की सृष्टि करता है। तब हम लोगों का संसार कितना तुच्छ और कितना हेय हो जाता है! पर ज्योंही मैं बाहर जाने के लिए तैयार हुआ त्योंही मुझे स्मरण हुआ कि मेरे पास छाता नहीं है। ऐसी वृष्टि में छाता न रहने से भावमय सौन्दर्य की तो अवश्य अनुभूति हो सकती है; पर कर्ममय जीवन का काम नहीं चल सकता। मैं रानूदान से छाता लेकर घर से बाहर निकला।

सड़क पर छल-छल, कल-कल कर जल के जो छोटे-छोटे प्रवाह बहने लगे थे, उनके स्वर में जो संगीतमय मधुरता थी, वही उनकी क्षिप्र गति में भी थी। सड़क पर कितने ही बालक स्वच्छन्दतापूर्वक खेल रहे थे। वर्षा-ऋतु का यथार्थ रस वही पा रहे थे। तब तक मैं बागची साहब के घर तक पहुँच गया। देखा, जयती स्थिर दृष्टि से न जाने क्यों आकाश की ओर देख रही थी। मुझे तो ऐसा जान पड़ा कि वर्षा-काल की प्रकृति-लक्ष्मी ने इसी बालिका का रूप धारण कर लिया है। तभी तो उसकी निविड़ केश-राशि और सुदीर्घ नेत्रों में मेघ-घटा की कालिमा थी, मुख पर प्रफुल्ल कमल

की लालिमा थी और परिधान में पृथ्वी की हरीतिमा थी। इसी समय शङ्कर का अचानक निमन्त्रण पाकर ज्योंही मैं कमरे के भीतर गया, त्योंही नमिता ने कहा—'मास्टरजी, आज तो छुट्टी होनी चाहिए। ऐसी वर्षा में कौन पढ़ेगा ?' नमिता का कथन बिलकुल सच था। प्रकृति के इस महोत्सव में यदि हम सम्मिलित नहीं हो सकते, तो हमारे जीवन में उत्सव-काल कब आवेगा ? मैंने कहा—'चार दिनों के बाद ही तो तुम्हारी परीक्षा है।' परीक्षा का नाम लेते ही नमिता चिन्ता में डूब गई। तब उसने अनुभव किया कि जीवन में उत्सव के ही दिन नहीं हैं, परीक्षा के भी दिवस होते हैं। वह चुपचाप किताब लेकर बैठ गई और पढ़ने लगी।

पर बाहर वर्षा की गति नहीं रुकी। कभी कभी अपनी इस लीला को क्षण भर रोककर वह भी मानों मनुष्यों के तुच्छ कार्यों पर निर्लिप्त दृष्टिपात करती थी और फिर खिलखिलाकर अपनी लीला में मग्न हो जाती थी। स्कूल का काम समाप्त हुआ। रात हो गई। अँधेरा हो गया। पर वर्षा बन्द नहीं हुई। उसकी गति अवश्य मन्द हो गई। क्रमशः अन्धकार बढ़ता ही गया। चारों ओर निशा की निःस्तब्धता छा गई। मुझे वह अन्धकार बड़ा ही रहस्यमय प्रतीत होने लगा। निशा के इस निबिड़ अन्धकार में भय और शङ्का के साथ प्रेम और वेदना के भी भाव विलीन रहते हैं। तभी तो जयदेव ने कहा है :—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
नक्तं भीरुरयं तदेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमे
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः ॥

मेघाच्छन्न आकाश, अन्धकारमय पथ, नदी-तट, प्रेम की व्यग्रता, औत्सुक्यपूर्ण प्रतीक्षा, सौन्दर्य का रहस्यमय अवगुण्ठन, नुपूर-ध्वनि आदि से युक्त कल्पना-जगत् के निकुञ्जों में मैं भी न जाने कब तक विचरण करता रहा और न जाने कब सो गया। सहसा लोगों का कोलाहल सुनकर मैं जाग

पड़ा। मालूम हुआ कि नदी की बाढ़ मेरे घर तक आ गई है। सभी लोग भागते हैं। कुछ देर के बाद बाढ़ के और अधिक बढ़ जाने से मैं भी अपने घर के सब लोगों को लेकर सेठ मेघराजजी के घर पहुँचा। वहीं हम लोग रात भर रहे। नगर के कितने ही लोग अपना-अपना घर छोड़कर इसी मुहल्ले में आ गये थे। इस समय मेरे हृदय में जो भावनायें उठ रही थीं, उन्हें मैं ही समझ सकता हूँ। शिक्षित और मध्यवित्त गृहस्थ होने के कारण मैं अपने अभावों के कारण एक ग्लानियुक्त उत्ताप का अनुभव कर रहा था। पक्का घर न होने के कारण ऐसे कुसमय में मुझे घर छोड़ना पड़ा। सेठजी की कृपा के कारण मेरे घरवालों को कष्ट अवश्य नहीं हुआ; पर मैं अपने मन में एक अशान्ति, असन्तोष और व्यथा का अनुभव कर रहा था। वहीं कुछ ग़रीब लोग भी आ गये थे; पर उन्हें कष्ट होने पर भी कोई दुश्चिन्ता नहीं थी।

दूसरे दिन मैं घर आया। नगर का दृश्य सचमुच भयावह था। कितने ही मकान गिर गये थे। सभी मिट्टी के मकान थे, और उनमें ग़रीब ही लोग रहते थे। राजा साहब की आज्ञा से वे सब स्कूलों और अन्य स्थानों में रहने की जगह पा गये। उन्हें अनाज देने का भी प्रबन्ध हुआ और मकान बनाने के लिए कुछ रुपये भी दिये गये। स्कूल बन्द हो गया। नगर में जब कोई विपत्ति आती है, तब उसका दुष्परिणाम गरीबों के ही जीवन में देखा जाता है। दुर्भिक्ष में वही मरते हैं। रोगों का प्रकोप होने-पर उन्हीं का संहार होता है। बाढ़ या भूकम्प में उन्हीं का सर्वनाश होता है। युद्ध में भी उन्हींकी अधिक हत्या होती है। फिर भी संसार में उन्हीं की संख्या सबसे अधिक होती है। घास की तरह वे ही सबसे अधिक बढ़ते हैं और सबसे अधिक नष्ट भी होते हैं। संसार में हम लोग जिसे सुख मानते आये हैं, उस सुख को तो वे जानते ही नहीं। उस सुख पर तो कुछ श्रीमानों का ही अधिकार रहता है। फिर भी यह बात नहीं है कि वे आनन्द का अनुभव ही नहीं करते। मेरी तो साधारण स्थिति है। मैं

दरिद्र नहीं कहा जा सकता; परन्तु सचमुच जो ग़रीब हैं, उनके साथ मैं बराबर रहता आया हूँ। उन झोपड़ों में आनन्द की वही उज्ज्वल ज्योति है, जो सूर्य के प्रकाश में है, जो उनके आँगनों में पड़ता है। उनकी आवश्यकता थोड़ी ही है, इसी से वे थोड़े में ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे जिस आनन्द के साथ रूखा-सूखा भोजन करते हैं और चीथड़ों में सोते हैं, वह श्रीमानों को सचमुच दुर्लभ है।

नगरों में श्रीमानों के विलास और ऐश्वर्य की ओर जनता में जो असन्तोष की भावना बढ़ रही है, वह यथार्थ में गरीबों की भावना नहीं है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि वह भावना है मुझ-जैसे शिक्षित मध्यम श्रेणी के लोगों की। मेरे ही घर के नज़दीक जो दरिद्र रहते हैं, उनसे मैंने अपनी तुलना कभी नहीं की है। उनकी अवस्था अवश्य हीन है; पर उन लोगों ने 'आदम के ज्ञान का फल' अभी तक नहीं चखा है। इसी से उनके जीवन में सरलता है, सन्तोष है, सहिष्णुता है और स्नेह है। उनमें नगरों की बुभुक्षा और लोलुपता नहीं है। पर मैं तो ज्ञान का फल चख चुका हूँ। मेरी तो आवश्यकतायें बढ़ गई हैं। जब मैं अपनी आवश्यकताओं की ओर ध्यान देता हूँ, तब मुझे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुझे अपने अभावों की पूर्त्ति के लिए जो कष्ट उठाना पड़ता है, वह उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए नहीं उठाना पड़ता। मैंने देखा कि बाढ़ के दूसरे ही दिन अधिकांश लोग अपने-अपने कामों में निश्चिन्त होकर लग गये। पर मैं अपनी स्थिति से चिन्तित हूँ, त्रस्त हूँ और उद्विग्न हूँ। केवल दो धोतियों और बासी पर निर्भर रहनेवाली देवकुँवर को मैंने कभी उदास ही नहीं देखा। सोनकुँवर को भी मैंने सभी स्थितियों में प्रसन्न देखा। आश्चर्य की बात तो यह है कि सुमरित के घर में सोकर मुझे भी कोई कष्ट नहीं हुआ। मैंने भी वहाँ एक शान्तिपूर्ण उल्लास का अनुभव किया। यह सच है कि हम लोग अपनी आवश्यकताओं को स्वयं बढ़ाकर उनकी पूर्ति न होने से चिन्तित और दुःखित होते हैं। पर शिक्षा और सभ्यता के प्रसार ने मेरी इन

कृत्रिम आवश्यकताओं को बिल्कुल स्वाभाविक बना दिया है। मैं नहीं समझता कि मैं विलासप्रिय हूँ। मैं अपने को अमितव्ययी भी नहीं समझता पर यह सच है कि खैरागढ़ ऐसे छोटे ग्राम में भी अपनी आवश्यकताओं की वृद्धि के कारण मेरा निर्वाह नहीं हो रहा है। यही हाल मेरे ही समान मध्यम श्रेणी के कितने ही अन्य गृहस्थों का है। तभी तो हम सभी अपनी तुलना बड़ों से करते हैं और उनका ऐश्वर्य देखकर अपनी दशा से असन्तुष्ट होते हैं।

आजकल समता का सिद्धान्त जो प्रचलित हो रहा है, उसका आधार प्रेम नहीं, यही सम्पत्ति और प्रभुत्व है। वैज्ञानिकों के ज्ञान और नीतिज्ञों की नीति दोनों का लक्ष्य इसी सम्पत्ति और प्रभुत्व की वृद्धि है। उसी के कारण जीवन में संघर्ष है और देश में युद्ध है। यन्त्रों की वृद्धि हो रही है, उद्योगों की उन्नति हो रही है, व्यवसायों का विस्तार हो रहा है ; पर उन्हीं के साथ राष्ट्रों में संघर्ष भी बढ़ रहा है, देश के भीतर अशान्ति भी फैल रही है। यदि सचमुच में हममें समता और बन्धुत्व का भाव आ जाय, तो यही संसार स्वर्ग हो जाय। पर एकमात्र सम्पत्ति को ही प्रधानता देकर हम लोगों में जो एक असन्तोष और अशान्ति की प्रबलता हो रही है, वह क्या हमें सचमुच सुख और शान्ति के पथ में ले जा रही है ?

इन्हीं चिन्ताओं में व्यस्त रहकर जब मैं सन्ध्या समय नदी-तट पर पहुँचा, तब देखा कि वहां कैसी शान्ति है, कैसी शोभा है, कैसा माधुर्य है ! रात्रि की भयानकता न जाने कहाँ विलीन हो गई थी। नदी कल-कल कर बहती जा रही थी। वृक्षों पर पक्षी कलरव कर रहे थे और कुछ नदी में ही विहार कर रहे थे। पवन भी मन्द-मन्द गति से बह रही थी। सूर्यास्त के कारण आकाश बहुवर्ण रञ्जित हो गया था। सर्वत्र सौन्दर्य का एक अप्रतिम राज्य था। यहीं तो हम सच्ची शान्ति का अनुभव करते हैं। पर क्या मूक प्रकृति में ही यह सौन्दर्यमय जीवन है ? क्या मनुष्यों के जीवन में अभावों के ही कष्ट और चिन्ताओं की ही वेदनाएँ हैं ? उसमें क्या कहीं

विशुद्ध सौन्दर्य, विशुद्ध आनन्द या विशुद्ध मुक्ति की अवस्था नहीं है ? बाह्य जगत् में जिस अलक्षित शक्ति द्वारा अलौकिक सौन्दर्य की सृष्टि होती है, उसने क्या हमारे अन्तर्जगत् में किसी भी सौन्दर्य की रचना नहीं की ? वहाँ क्या हिंसा और वासनाओं की ही आँधी उठती है ? वहाँ क्या प्रेम की मृदु तरंगें नहीं उठती हैं ? क्या संसार में संघर्ष ही सत्य है, सहयोग नहीं ? क्या जीवन में कर्म का चक्र ही यथार्थ है, भाव की कला नहीं ? क्रमशः अन्धकार फैल गया और मैं घर लौट आया। पर इस एक ही दिन में जीवन में कला का अनुभव किया और कला में जीवन का।

———

# वियोगी हरि

(जन्म १८९६ ई०)

वियोगी हरि जी का जन्मस्थान छतरपुर रियासत में है। आपका वास्तविक नाम तो हरिप्रसाद द्विवेदी है किन्तु उपनाम की ख्याति के आगे उसे कोई जानता भी नहीं। आप पक्के गांधीवादी हैं और आजकल दिल्ली की हरिजन बस्ती की अनेक संस्थाओं के व्यवस्थापक हैं। आप गद्य तथा पद्य दोनों ही के सिद्धहस्त लेखक हैं। आपको एक भक्तहृदय मिला है और भक्तिकी पुनीत भाव-भूमि से आपके उद्गार निकलते हैं। आपका गद्य भी कवितामय होता है। आपके गद्य-काव्य-संग्रह ये हैं—अंतर्नाद, प्रेमयोग, साहित्यविहार। वीर सतसई में वीररस की कविताएँ हैं। इनके अतिरिक्त अनेक संकलन और टीकाएँ हैं।

वियोगी हरि जी सहृदय और भावुक लेखक हैं। इनकी गद्यशैली इसी सहृदयता और भावुकता से ओतप्रोत है। इसे हम भावप्रधान शैली कह सकते हैं। उसमें उत्कृष्ट व्यंजना-प्रणाली एवं भाषा-सौन्दर्य है। सानुप्रास वाक्‌धारा में हृदय की अनुभूति छलकी पड़ती है। भाषा विषय के अनुरूप है और उसमें प्रवाह तथा अनुरंजकता है। कहीं कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों की धूम है किन्तु अधिकतर भाषा को व्यावहारिक बनाने के लिए उर्दू शब्दों का निर्बाध प्रयोग किया गया है। आपकी शैली बड़ी मस्ती के साथ आगे बढ़ती है। बीच बीच में फारसी, उर्दू, संस्कृत तथा हिन्दी कविताओं के उद्धरण देते हुए आप अपने कथन की पुष्टि करते हैं। उर्दू शब्दों एवं मुहावरों के प्रयोग से भाषा में सरसता एवं चपलता आ गई है। उसमें घरेलू बोली की मधुरता है। भावों की तीव्रता के कारण शैली सशक्त तथा ओजपूर्ण हो गई है।

Ram Vindhyachal Tripathi
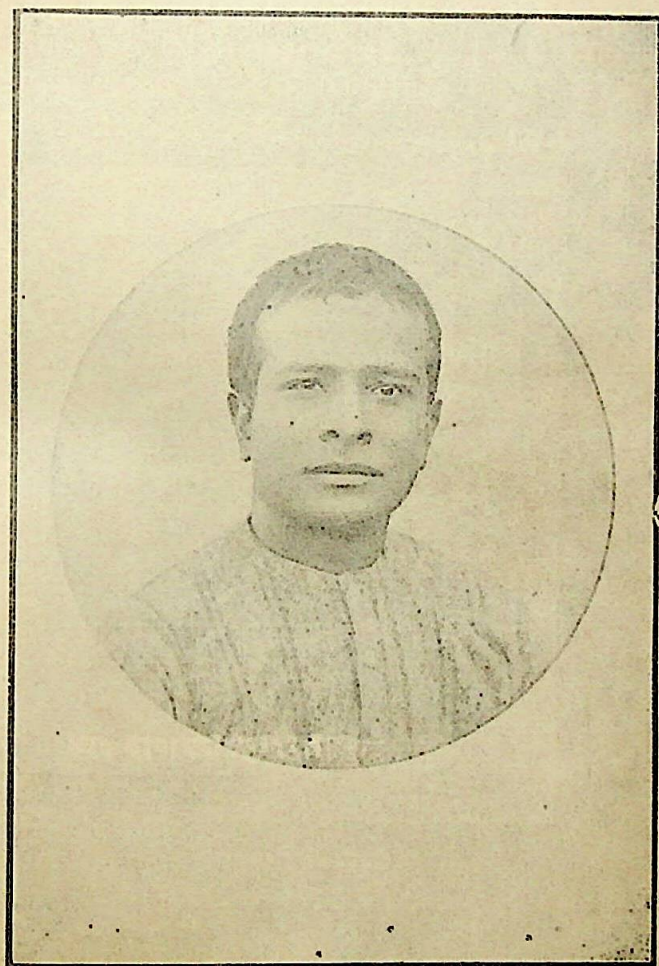
वियोगी हरि

प्रेम और विरह नामक निबन्ध में लेखक ने अनेक कवियों की उक्तियों द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि विरह में प्रेम और भी परिपक्व होता है। प्रेम की कसौटी विरह ही है। इस निबन्ध की वर्णन-प्रणाली कल्पना-रंजित, आवेगपूर्ण एवं सरस है।

———

# प्रेम और विरह

सद्गुरु कबीर की एक साखी है—

विरह-अगिन तन-मन जला, लागि रहा ततजीव।
कै वा जानै विरहिनी, कै जिन भेंटा पीव॥

विरह की अग्नि से जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीर भस्मीभूत हो चुके, तब कहीं इस प्रेम-विभोर जीव का उस परम प्रिय तत्त्व से तादात्म्य हुआ। इस विरहानल-दाह का आनंद या तो विरहिणी ही लूटती है, और या वह सुहागिनी, जिसकी अपने वियुक्त प्रियतम से भेंट हो चुकी है। महात्मा कबीर की एक और साखी विरह-तत्त्व का समर्थन कर रही है—

विरहा कहै कबीर सौं, तू जनि छाँड़ैं मोहि।
पारब्रह्म के तेज मैं, तहाँ ले राखौं तोहि॥

इसमें संदेह नहीं, कि आत्यंतिक विरहासक्ति ही प्रेम की सबसे ऊँची अवस्था है। प्रेम की परिपुष्टि विरह से ही होती है, विरह एक तरह का पुट है। बिना पुट के वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता। सूरदासजी ने क्या अच्छा कहा है—

ऊधो, विरहा प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहे रसहि परै॥

जब तक घड़े ने अपना तन, अपना अहंकार नहीं जला डाला, तब तक कौन उसके हृदय में सुधा-रस भरने आएगा? विरहाग्नि में जलकर शरीर मानों कुंदन हो जाता है। मन का वासनात्मक मैल जलाकर उसे विरह ही निर्मल करता है—

विरह-अगिन जरि कुंदन होई। निर्मल तन पावै पै सोई॥

—उसमान

बिना विरह के प्रेम की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इसी तरह बिना प्रेम के विरह का भी अस्तित्व नहीं है। जहाँ प्रेम है, वहाँ विरह है। प्रेम की आग को विरह-पवन ही प्रज्वलित करता है। प्रेम के अंकुर को विरह-जल ही बढ़ाता है। प्रेम-दीपक की बाती को यह विरह ही उसकाता रहता है।

इसी से तो कहा गया है, कि—

धन सो धन जेहि विरह-वियोगू। प्रीतम लागि तजै सुख-भोगू॥

विरह यदि ऐसा ही सुखदायी है, तो फिर विरही दिन-रात रोया क्यों करता है? यह न पूछो, भाई, विरह की वेदना मधुमयी होती है। उसमें रोना भी रुचिकर प्रतीत होता है। अपने बिछुड़े हुए प्यारे का ध्यान आते ही हृदय में एक ज्वाला उठती है, फिर भी वह विरही उसी का ध्यान करता रहता है। प्रेम-रत्न के जौहरी जायसी को इस जलने-भुनने की अच्छी जानकारी थी। उस विरहानुभवी साधक ने क्या अच्छा कहा है—

लागिउँ जरै, जरै जस भारू। फिरि फिरि भूँजेसि, तजिउँ न बारू॥

भाड़ की जलती बालू में अनाज का दाना डालकर कितनी ही बार भूनो, वह बराबर उछलता ही रहेगा, उस प्यारी बालू को छोड़कर बाहर न जायगा। विरह-दाह में वियुक्त प्रिय का ध्यान चंदन और कपूर से भी अधिक शीतल लगता है। इसी से उस दाह में दग्ध होने को विरही प्रेमी का चित्त सदा व्याकुल और अधीर रहा करता है—

जरत पतंग दीप में जैसे, औ फिरि-फिरि लपटात।

—सूर

विरही के रुदन को कोई क्या जाने? मौलाना रूम की रोई बाँसुरी कहती है—"जिसका हृदय वियोग के मारे टुकड़े-टुकड़े न हो गया हो, वह मेरा अभिप्राय कैसे समझ सकता है? यदि मेरी दरद भरी दास्ताँ सुननी है, तो पहले अपने दिल को किसी प्यारे के वियोग में टुकड़े-टुकड़े कर दो, फिर मेरे पास आओ, तब मैं बताऊँगी कि मेरी क्या हालत है। मैंने अच्छे-बुरे सभी के पास जाकर अपना रोना रोया, पर किसी ने भी ध्यान न

दिया—सुना और सुनकर टाल दिया। जिन्होंने सुना और ध्यान न दिया मैं उनको बहरा जानती हूँ, और जिन्होंने चिल्लाते देखा, पर न जाना कि क्यों चिल्ला रही है, मैंने समझ लिया कि वे अंधे हैं। मेरे रोने के रहस्य को एक वही जान सकता है जो आत्मा की आवाज़ को सुनता तथा पहचानता है। वास्तव में, मेरा रुदन आत्मा के रुदन से जुदा नहीं है।"

तब विरही के रोने को आनंददायी क्यों न कहें। धन्य है वह, जो प्रियतम के वियोग में इस बाँसुरी की तरह दिन-रात रोया करता है—

धन सो धन जेहि विरह-वियोगू। प्रीतम लागि तजै सुख-भोगू॥

युगों से कसक सो रही है। इसी से जीव भी बेहोश पड़ा है और सुरत भी सो रही है। कौन इन्हें जगावे? द्वार पर खड़े प्यारे स्वामी से कौन इस जीव को मिलावे? बस, विरह ही कसक को जगा सकता है और कसक जीव को जगा सकती है, और सुरत को जीव जगा लेगा। संतवर दादूदयाल कहते हैं—

विरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरत को, पंच पुकारै पीव॥

ऐसी महिमा है महात्मा विरह-देव की। प्रिय विरह निश्चयपूर्वक सुरत और जीव का सद्गुरु है। जिसने इस महा-महिम से गुरु-मंत्र ले लिया, उसका उसी क्षण प्रेम-देव से तादात्म्य हो गया। जिसने यह दुस्साध्य साधन साध लिया, उसे आत्मसाक्षात्कार हो गया। पर विरहात्मक प्रेम का साधक यहाँ मिलेगा कहाँ? इस लेन-देन की दुनिया में उसका दर्शन दुर्लभ है। शायद ही लाख-करोड़ में कहीं एकाध सच्चा विरही देखने में आए। उसकी पहचान भी बड़ी कठिन है। उसका भेद पा लेना आसान नहीं। संत चरणदास ने विरह-साधना में मतवाली विरहिणी की कैसी सच्ची तसवीर खींची है—

गद्गद बानी कंठ में, आँसू टपकैं नैन।
वह तो विरहिन राम की, तलफति है दिन-रैन॥

वह विरहिन बौरी भई, जानत ना कोई भेद।
अगिन बरै हियरा जरै, भये कलेजे छेद॥
जाप करै तो पीव का, ध्यान करै तो पीव।
जिव विरहिन का पीव है, पिव विरहिन का जीव॥

वह प्यारे राम की विरहिणी है। उस प्यारे के दीदार की ही उसे चाह है। वह एक प्यासी पपीहा है। एक दरद-रँगीली दीवानी है। व्यथा कैसे कहे—गला भर आया है, आँखों से झरने झरते हैं। दिन-रात बेचारी तड़पती ही रहती है। अरे, वह तो पगली है, पगली। ऐसी पगली, कि उसके पागलपने का भेद ही आज तक किसी को नहीं मिला। उस दीवानी के दिल में एक आग बल रही है, जिगर जल रहा है। कलेजे के अंदर छेद-ही-छेद हो गए हैं। जाप करती है, तो प्यारे का और ध्यान धरती है तो प्यारे का। उस विरहिणी का जीव आज उसका प्रियतम हो रहा है और उसका प्रियतम हो गया है उसका जीव। जीव पर प्यारे की छाया पड़ रही है और प्यारे पर जीव की झाईं झलक रही है! 'जीव और पीव' में कैसा ग़ज़ब का तादात्म्य हुआ है।

प्यारे का उसे दिखाई देना क्या था, उससे बिछुड़कर खुद उसे अपने आपसे भी जुदा कर देना था। मीर साहब ने क्या अच्छा कहा है।

दिखाई दिए यूँ कि बेखुद किया,
हमें आपसे भी जुदा कर चले।

खूब दिखाई दिए! अपनी जुदाई के साथ-साथ बेखुदी भी हमें देते गए। अच्छा हुआ, एक बला टली। अपना एक मन था, वह भी हाथ से चला गया। मन से भी छुट्टी पा ली। अब मनवाले उस बेमनवाले की व्यथा जानने आए हैं! पर क्या मोहित का मर्म मोहक समझ सकेगा? कभी नहीं—

कान्ह परे बहुतायत में, इक लेन की बेदन जानौ कहा तुम?
हौ मनमोहन, मोहे कहूँ न, बिथा बिमनेन की मानौ कहा तुम?

चौरौ वियोगिनि आय सुजान ह्वै, हाय कछू उर आनौ कहा तुम ?
आरतिवंत पपीहन को घन आनँद जू! पहिचानौ कहा तुम ?

हाँ, सचमुच उस बेदिल का भेद तुम्हें न मिलेगा। क्या हुआ जो तुम दिल्दार हो? उस दीवाने ने तो हसरते दीदार पर ही अपने दिल को न्योछावर कर दिया है। अब शायद ही वह तुम्हारा दर्शन कर सके, क्योंकि वह बेचारा प्रेमी, दिल के न होने से, आज ताक़ते दीदार भी खो चुका है—

दिल को नियाज़ हसरते दीदार कर चुके,
देखा तो हममें ताक़ते दीदार भी नहीं।

—ग़ालिब

उसकी इस भारी बेवकूफ़ी पर तुम्हें मन-ही-मन हँसी तो ज़रूर आती होगी, सरकार! पर ज़रा उस बेदिल की आँखों से देखो क्या नज़र आता है! वह पगला कहता है, कि एक घड़ी तनिक अपने आपसे बिछुड़ देखो, आप ही विरह का सब भेद खुल जायगा—

कैसो संयोग वियोग धौं आहि, फिरौ 'घनआनँद' ह्वै मतवारे।
मो गति बूझि परै तब हीं, जब होहु घरीक हूँ आपते न्यारे॥

बात वही है, कि प्रिय से बिछुड़ना अपने आपसे बिछुड़ जाना है। और जिसने अपने आपसे बिछुड़ना नहीं जाना, वह उस प्यारे के विरह-रस का अधिकारी ही नहीं है। अरे भाई, हसरते दीदार पर अपनी खुदी को न्योछावर कर देनेवाला ही तो यह कहने का साहस करेगा, कि—

विरह-भुवंगम पैठिकै किया कलेजे घाव।
विरही अंग न मोड़िहै, ज्यों भावै त्यों खाव॥

—कबीर

कुछ ठिकाना! कितना साहसी और सूर होता है विरही!

* * *

व्यापकता की प्रत्यक्षानुभूति विरह-वेदना में ही होती है। विरही के प्रति सभी सहानुभूति प्रकट करते हैं, या उसकी दृष्टि ही कुछ ऐसी हो

जाती है, कि सारा संसार उसे अपने ही समान विरहाकुल दिखाई देता है। विरह-दग्ध की दृष्टि में धुएँ-से बादल कोयले की तरह काले हो जाते हैं, राहु-केतु भी झुलस जाते हैं, सूर्य तप्त हो उठता है, चंद्रमा की कलाएँ जलकर खंडित हो जाती हैं और पलास के फूल तो अंगारों की भाँति उस राग में दहकने लगते हैं। तारे जल-जलकर टूट पड़ते हैं। धरती भी धायँ-धायँ जलने लगती है। हमारे प्रेमी जायसी ने इस विश्वव्यापी विरह-दाह का कैसा सकरुण वर्णन किया है।

अस परजरा विरहकर गठा। मेघ स्याम भये धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरजु जरा, चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत तराई जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावहिं ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ॥

ये सब उस विरही के दुःख में दुखी न हुए होते, उसके साथ इन सबों ने समवेदना प्रकट न की होती तो बेचारा कब तक अकेला ही उस आग में जलता रहता। वह जला और उसने सारी प्रकृति ही दहकती हुई देखी। वह रोया और उसने सारे विश्व को अपने साथ फूट-फूटकर रोता हुआ पाया। हाँ, सच तो यह है, उस विरह-दग्ध के रक्ताश्रुओं से आज सभी उसके साथ हृदय का रुधिर आँखों से टपका रहे हैं—

नैननि चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भयेउ रतनारा॥
सूरज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥
ईंगुर भा पहार जो भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा॥

विरही के रक्तमय आँसुओं में सारा संसार रँग गया है। कैसी करुण-कलापिनी कल्पना है! विरह की कैसी विशद विश्व-व्यापकता है!

निस्संदेह प्रिय-विरह समस्त प्रकृति में भर जाता है। अणु-परमाणु तक विरही दिखाई देता है। सूर की एक सूक्ति है—

ऊधो, यहि ब्रज विरह बढ़यो।
घर बाहिर, सरिता बन उपवन बल्ली द्रुमन चढ़यो॥

वासर-रैन सधूम भयानक, दिसि-दिसि तिमिर मढ़्यो ।
द्वंद करत अति प्रबल होत पुर, पय सों अनल डढ़्यो ॥
जरि कित होत भस्म छिन महियाँ हा, हरि मंत्र पढ़्यो ।
'सूरदास' प्रभु नँदनंदन बिनु नाहिन जात कढ़्यो ॥

जो इस विरहानल से जलते-जलते बच गया, उस पर आश्चर्य होता है—

मधुवन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह-वियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े कत न जरे

अस्तु, जो भी हृदयवान् होगा, वह अवश्यमेव विरही के प्रति सहानुभूति दिखाएगा। हृदय-हीन की बात दूसरी है। हृदय की विशालता, सच पूछो तो, एक विरही में ही देखी गई है। उसके हृदय में होता है अपने प्यारे का ध्यान और उस ध्यान में होती है अखिल विश्व की व्यापकता। फिर क्यों न उसके व्यथित हृदय के साथ समस्त सृष्टि समवेदना प्रकट किया करे ! विरह-दशा में सारा संसार ही अपना सगा प्रतीत होने लगता है। सबके सामने हृदय खुला हुआ रखा रहता है। कुछ ऐसा लगा करता है, कि सभी उस प्यारे को प्यार करनेवाले हैं, सभी उस दिलवर के दीदार के प्यासे हैं। जिसकी हमें चाह है, इन्हें भी उन्हीं की है। शायद इन सब को उस लापते का पता भी मालूम हो। विरहिणी गोपिकाएँ अपने वियुक्त प्रियतम का पता, देखो—पशु-पक्षी, मधुप, लताविटप, नदी, पृथिवी आदि सभी से पूछ रही हैं—

विरहाकुल है गईं सबै पूछति बेली बन ।
को जड़ को चैतन्य न कछु जानत विरही जन ॥
हे मालति ! हे जाति ! जूथ के ! सुनिहित दै चित ।
मान-हरन मन-हरन लाल गिरधरन लखे इत ?
हे चंदन दुख-दंदन, सबकी जरनि जुड़ावहु ।
नँद-नंदन जगवंदन, चंदन हमहि बतावहु ॥

पूछो री ! इन लतनि, फूलि रहिं फूलनि जोई ।
सुंदर पिय के परस बिना अस फूल न होई ॥
हे सखि ! ये मृग-वधू इन्हैं किन पूछहु अनुसरि ।
डहडहे इनके नैन अबहिं कहुँ देखे हैं हरि ॥
हे अशोक ! हरि शोक लोक-मनि पियहि बतावहु ।
अहो पनस ! सुभ सरस मरत तिय अमिय पियावहु ॥
हे जमुना ! सब जानि-बूझि तुम हठहि गहिति हौ ।
जो जल जग-उद्धार ताहि तुम प्रगट बहति हौ ॥
हे अवनी ! नवनीत-चोर चित-चोर हमारे ।
राखे कितहुँ दुराय बता देउ प्रान पियारे ॥

—नंददास

भला, पूछो तो, ये ललित लताएँ क्यों फूलों से फूल रही हैं । यह निश्चय है, कि बिना प्यारे का स्पर्श किए इनमें ऐसी प्रफुल्लता आ ही नहीं सकती । इन लहलही लताओं ने अवश्य ही प्रियतम का स्पर्श-सुख प्राप्त किया है । यही कारण है, कि ये फूली नहीं समातीं । और, ये सुकुमारी मृग-वधूटियाँ ? धन्य इनके भाग्य ! इनकी कैसी डहडही आँखें हैं ! अभी-अभी इन सुहागिनियों ने प्यारे श्यामसुंदर को कहीं देखा है । बिना नँदनंदन की प्यारी-प्यारी झलक पाए नयनों में यह डहडहापन कैसे आ सकता है ?

चाह-भरी चातकी चन्द्रावली भी उस काले छलिया के पास अपनी विरह-व्यथा का संदेसा भेजना चाहती है । वह भी आज यह भेद-भाव भूल गई है, कि कौन जड़ है और कौन चैतन्य है ! कैसी पगली है—

अहो पौन ! सुख-भौन, सबै थल गौन तुम्हारो ।
क्यों न कहौ राधिका-रौन सों, मौन निवारो ॥
अहो भँवर ! तुम स्याम रंग मोहन-व्रत-धारी ।
क्यों न कहौ वा निठुर स्याम सों दसा हमारी ?

हे सारस ! तुम नीकें बिछुरन-बेदन जानौ।
तौ क्यों प्रीतम सों नहिं मेरी दसा बखानौ ॥
हे पपिहा ! तुम 'पिउ पिउ पिउ' पिउ रटत सदाई।
आजहुँ क्यों नहिं रटि-रटि कै पिय लेहु बुलाई ॥

—हरिश्चन्द्र

और नहीं तो, पूज्य पवनदेव, कृपा कर मेरा इतना काम तो कर ही दो ; जहाँ कहीं भी मेरे प्यारे हों, उनके पैरों की थोड़ी सी धूल मुझे ला दो। उसे मैं इन जलती हुई आँखों में आँजूँगी। हाँ, विरह-व्यथा में वह प्यारी धूल ही संजीवनी का काम देगी—

विरह-बिथा की मूरि, आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन की, हा हा, नेकु आनि दै।

—आनंदघन

वियोग-श्रृंगार के मुख्य कवि जायसी ने भौंरे और कौए के द्वारा एक विरहिणी का सँदेसा उसके प्रियतम के पास बड़ी ही विदग्धता से भेजवाया है। प्रिय-वियोगिनी केवल इतना ही कहलाना चाहती है—

पिउ सों कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
सो धन बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग ॥

इस 'सँदेसे' में विश्वव्यापिनी सहानुभूति की कैसी सुंदर व्यंजना हुई है !

———

# धीरेन्द्र वर्मा

(जन्म १८९७ ई०)

हिन्दी साहित्य और भाषा विज्ञान के उच्च कोटि के विद्वान् डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं। आपने भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है और 'हिन्दी भाषा का इतिहास' नामक ग्रन्थ में वैज्ञानिक ढंग से हिन्दी का विकास दिखाया है। भाषा के साथ साथ भारत की विभिन्न लिपियों का भी इन्होंने पांडित्यपूर्ण ऐतिहासिक विवेचन किया है। पश्चिमी ढंग की तथ्य कथन-प्रधान वैज्ञानिक शैली के प्रचार का श्रेय आप ही को दिया जाता है। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—हिन्दी भाषा का इतिहास, व्रजभाषा व्याकरण, और विचारधारा। विचार-धारा विविध विषयों पर लिखे गए निवन्धों का संग्रह है।

वर्मा जी की शैली तथ्यकथन प्रधान है। आप उतना ही कहते हैं जितना आवश्यक है। न तो कहीं भाषा की उछलकूद है, न अलंकारों का आलोक है और न व्यंग-विनोद का चुलवुलापन। वात को सीधे ढंग से सामान्य भाषा में व्यक्त कर देने की कला ही वर्मा जी की विशेषता है। शैली की सरलता में भी गंभीरता है। छोटे छोटे वाक्यों में सुलझी, सुस्पष्ट विचार-धारा बहती जाती है।

प्रस्तुत निवन्ध 'विचार-धारा' से लिया गया है। इसमें विद्वान लेखक ने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि हिन्दी मध्यदेश (प्राचीन परिभाषा में) की भाषा है और इस प्रदेश की संस्कृति का स्रोत वेदों से आरम्भ होकर निरंतर प्रवाहित होता रहा है। अतएव हमारे साहित्य को भी इसी स्रोत से जीवन ग्रहण करना होगा।

———

# मध्यदेशीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य

किसी जाति का साहित्य उसके शताब्दियों के चिन्तन का फल होता है। साहित्य पर भिन्न-भिन्न कालों की संस्कृति का प्रभाव अनिवार्य है। इस प्रकार, किसी भी जाति के साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसकी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन परमावश्यक है। इसी सिद्धान्त के अनुसार अंग्रेजी आदि यूरोपीय साहित्यों का सूक्ष्म अध्ययन करनेवालों को उन भाषाभाषियों की संस्कृति के इतिहास का भी अध्ययन करना पड़ता है। यही बात हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। हिन्दी-साहित्य के ठीक अध्ययन के लिए भी हिन्दी-भाषियों की संस्कृति के इतिहास का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या हिन्दी-भाषियों की संस्कृति भारतीय संस्कृति से कोई पृथक् वस्तु है? इस प्रश्न के उत्तर में यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि भारतवर्ष की व्यापक संस्कृति में सन्निहित होने पर भी समस्त प्रधान अंगों में हिन्दी-भाषियों की एक पृथक संस्कृति अवश्य है। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय एकता में अनेकरूपता बराबर छिपी रही है। संपूर्ण भारतवर्ष को एक महाद्वीप अथवा राष्ट्रसंघ की संज्ञा देना ही उपयुक्त होगा। इस राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत कई राष्ट्र हैं जिनमें से प्रत्येक का पृथक् व्यक्तित्व है। इस पार्थक्य का प्रभाव इन राष्ट्रों की संस्कृति—जैसे भाषा एवं साहित्य आदि—पर समुचित रूप से पड़ा है। धर्म के व्यावहारिक रूप भाषा तथा साहित्य के क्षेत्रों में संस्कृति का यह भेद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ बंगाल और उत्तर प्रदेश की संस्कृति का मूल स्रोत यद्यपि एक ही है, बंगाली तथा हिन्दी-भाषी दोनों भारतीय हैं; किन्तु बंगाल में दुर्गा अथवा शक्ति की और संयुक्त-प्रान्त में रामकृष्ण की ही

उपासना का प्राधान्य है, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मूल में एकता होने पर भी व्यवहार में पार्थक्य है। यह पार्थक्य राष्ट्रीय जीवन के अन्य अङ्गों में भी दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी आज सम्पूर्ण भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने जा रही है, विश्ववन्द्य महात्मा गांधी तथा कवीन्द्र रवीन्द्र इसे स्वीकार करते हैं, किन्तु फिर भी ठाकुर महोदय ने अपनी समस्त साहित्यिक कृतियाँ बंगला में एवं महात्माजी ने गुजराती में लिखी हैं, हिन्दी में नहीं। जिस प्रकार व्यापक दृष्टि से समस्त यूरप की एक संस्कृति है, किन्तु साथ में फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि अनेक राष्ट्र हैं जिनकी अलग-अलग संस्कृति-सम्बन्धी विशेषताएँ हैं, उसी प्रकार इस भारतीय महाद्वीप में भी बङ्गाल, गुजरात, आन्ध्र, महाराष्ट्र आदि प्रान्त-संज्ञक अनेक राष्ट्र हैं जो संस्कृति की दृष्टि से अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। इसी भांति हिन्दीभाषियों की भी एक पृथक् संस्कृति है। उसी संस्कृति पर यहाँ संक्षेप में कुछ विचार प्रकट किये जायँगे, इस लेख में सुविधा के लिए हिन्दीभाषियों के लिए हिन्दी तथा हिन्दीभाषी प्रदेश के लिए हिन्द या मध्यदेश शब्द का प्रयोग किया गया है।

सबसे पहले इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी-भाषियों की भौगोलिक सीमा क्या है। आधुनिक काल में भारतवर्ष की राजभाषा अंग्रेजी है। मुगल काल में फारसी इस आसन पर आसीन थी। किन्तु फारसी और अंग्रेजी कभी भी राष्ट्रभाषा का स्थान न ले सकीं। वे केवल राजभाषाएँ थीं और हैं। राष्ट्रभाषा अन्तर्प्रान्तीय उपयोग की भाषा होती है जब से भारतवर्षमें व्यापक राष्ट्रीयता का आन्दोलन प्रचलित हुआ है तब से हिन्दी राष्ट्रभाषा अथवा अन्तर्प्रान्तीय भाषा के स्थान को लेने के लिए निरन्तर अग्रसर होती जा रही है। तो भी बङ्गाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र एवं गुजरात आदि की शिक्षित जनता बंगाली, मराठी, तेलगू और गुजराती आदिमें ही अपने मनोभावों को प्रकट करती रही है। ये भाषाएँ अपने अपने प्रदेशों की साहित्यिक भाषाएँ हैं। इस प्रकार राज-भाषा, राष्ट्रभाषा तथा साहित्यिक भाषाएँ तीन पृथक् बातें हुईं। साहित्यिक भाषा ही किसी प्रदेश की असली भाषा कही जा सकती है—राजभाषा या

राष्ट्रभाषा नहीं, अस्तु। वास्तव में उन्हीं प्रदेशों को हिन्दी-भाषी की संज्ञा से सम्बोधित करना चाहिये जहाँ शिष्ट लोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति हिन्दी में करते हैं तथा जहाँ की साहित्यिक भाषा हिन्दी है। भारत के मानचित्र को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि उत्तर प्रदेश, दिल्ली, हिन्दी मध्यप्रान्त, राजपूताना, विहार तथा मध्यभारत की देशी रियासतों का भूमिभाग ही इसके अन्तर्गत आ सकता है। इसी को हम हिन्दप्रदेश, या प्राचीन परिभाषा में मध्यदेश, कह सकते हैं। यह सच है कि इस प्रदेश के कतिपय भागों में, हिन्दी को साहित्यिक भाषा के रूप में मानने के सम्बन्ध में जत्र तत्र विरोध सुनाई पड़ता है। उदाहरणार्थ—विहार प्रान्त में मैथिल पण्डितों का एक दल मैथिली को तथा राजपूताना के मारवाड़ प्रान्त के कुछ विद्वान् डिंगल को ही उस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा के लिए उपयुक्त समझने लगे हैं। यह विरोध कदाचित् क्षणिक है; किन्तु यदि ये प्रदेश हिन्दी के साहित्यिक प्रभावक्षेत्र से अलग भी हो जावें तो भी हिन्द या मध्यदेश की भौगोलिक सीमा को कोई भारी क्षति नहीं पहुँचती। शेष प्रदेश हिन्द या मध्यदेश की संज्ञा ग्रहण करता रहेगा।

अब हमें यह देखना है कि 'संस्कृति' क्या वस्तु है, तथा इसके मुख्य अंग क्या हैं? संक्षेप में संस्कृति के अन्तर्गत निम्नलिखित चार मुख्य अंगों का समावेश किया जा सकता है—(१) धर्म, (२) साहित्य, (३) राजनैतिक परिस्थिति तथा (४) सामाजिक संगठन। ये चार कसौटियाँ हैं, जिनसे संस्कृति के इतिहास का पता लगता है। इनमें से धर्म के अन्तर्गत दर्शन, साहित्य में भाषा, तथा सामाजिक संगठन में जाति-व्यवस्था एवं शिक्षा, कला आदि का भी समावेश हो सकता है। हमारी संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है। यों तो यूरप में ग्रीस तथा रोम की सभ्यता बहुत पुरानी मानी जाती है, किन्तु मध्यदेशीय संस्कृति तो इस ग्रीस तथा रोम की सभ्यता से भी बहुत पुरानी है। इतनी पुरानी सभ्यता के इतिहास पर इस अल्प समय में पूर्ण प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अतएव यहाँ संक्षेप में ही उसका दिग्दर्शन कराया जायगा।

सुविधा की दृष्टि से इस संस्कृति के इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है—प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक। अधुनिक युग का आरम्भ तो उस काल से होता है जब हमारी संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने लगा। इसे अभी बहुत थोड़े दिन हुए, लगभग संवत् १८०० से इसका आरम्भ समझना चाहिए। मध्ययुग का समय वि० सं० १ से १८०० सं० तक समझना चाहिए और प्राचीन युग का विक्रमी संवत् के प्रारम्भ से १२०० वर्ष पूर्व तक। इस प्राचीन युग का भी एक प्रकार से प्रामाणिक इतिहास मिलता है। इससे भी पूर्व के समय को प्रागैतिहासिक युग में रख सकते हैं। इतने दीर्घकाल के इतिहास पर विहंगम दृष्टि से भी विचार करना सरल नहीं है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृति की दृष्टि से मध्यदेश का इतिहास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वैदिक संस्कृति का तो यह एक प्रकार से उद्गम है। मध्यदेश की संस्कृति को ही यदि सम्पूर्ण भारतवर्ष की संस्कृति कहें तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। प्राचीन युग में ऋक्, यजुः, साम आदि वेदों की संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों, अरण्यकों तथा उपनिषदों आदि की रचनाएँ हुईं। इसके पश्चात् यज्ञों की रूढ़ियों आदि के कारण एक प्रतिक्रिया हुई जिसके फलस्वरूप बौद्ध तथा जैन धर्मों की उत्पत्ति हुई। प्राचीन वैदिक धर्म के सुधार-स्वरूप ही ये दो नवीन धर्म उत्पन्न हुए थे। इन सुधार आन्दोलनों के साथ-साथ उसी समय एक 'वासुदेव सुधार' आन्दोलन भी प्रचलित हुआ जिसने बाद को वैष्णव धर्म का रूप ग्रहण किया।

यदि संहिता-काल के धर्म पर विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट विदित होगी कि इस काल में उपासना क्षेत्र में प्रकृति के भिन्न भिन्न रूपों में परम सत्ता को देखने की ओर ही आर्यों का विशेष लक्ष्य था। इस काम में मन्दिर आदि पूजास्थानों का अभाव था, उदाहरणार्थ, प्रातःकालीन लालिमा के दर्शन कर आर्य ऋषि आनन्द-विभोर हो उठते थे, जिसके फलस्वरूप उषा के स्तवन में अनेक ऋचाएँ उनके गद्गद कण्ठ से निःसृत

हुई। इसके प्रश्चात् यज्ञों की प्रधानता का समय आया, जिनमें धीरे-धीरे कर्मकाण्ड और पशुबलि की प्रधानता हो गयी। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, सुधारवाद के आन्दोलनों ने—जिनमें बौद्ध, जैन तथा वासुदेवसुधार सम्मिलित हैं—यज्ञकाल के कर्मकाण्ड तथा हिंसा के विरुद्ध प्रचार किया।

अपनी संस्कृति के इतिहास के मध्यकाल में अनेक पुराणों की—जैसे विष्णु-पुराण, अग्नि-पुराण, श्रीमद्भागवत इत्यादि की सृष्टि हुई। इसी काल में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश, इस देवत्रयी की प्रधानता धर्म के क्षेत्र में हुई। आगे चलकर जब इस पौराणिक धर्म में परिवर्तन हुआ तो शिव के साथ उमा की उपासना अनिवार्य हो उठी, तान्त्रिक-युग में काली रूप में इन्हीं उमा का हमें दर्शन होता है, पन्द्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में भक्तिवाद की एक प्रचण्ड लहर लगभग समस्त भारत को आप्लावित कर देती है। इसमें निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का समावेश है। सगुण भक्ति भी आगे चलकर राम तथा कृष्ण शीर्षक दो शाखाओं में विभक्त हो गयी।

आधुनिक युग का निश्चयात्मक रूप अभी हम लोगों के सम्मुख नहीं आया है। सच तो यह है कि मनुष्य की तरह संस्कृति की भी एक आयु होती है, किन्तु यह आयु लगभग ५०, ६० वर्ष की न होकर पाँच छः सौ वर्षों की होती है। एक प्रधान लक्ष्य जो आधुनिक संस्कृति में दिखलाई पड़ता है वह है सुधार की ओर झुकाव, आर्य-समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से प्राचीन आर्य-धर्म का एक परिष्कृत रूप मध्यदेश की जनता के सामने आ चुका है। हिन्दी साहित्य एवं भाषा पर भी इसका प्रभाव पड़ा है।

यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो यह विदित होगा कि हिन्दी साहित्य का एक चरण मध्ययुग में तथा दूसरा चरण आधुनिक युग में है। एक ओर यदि रीतिकाल का आश्रय लेकर कवित्त सवैयों में रचना हो रही है तो दूसरी ओर छायावाद तथा रहस्यवाद के रूप में काव्य की

नवीन धारा प्रवाहित हो रही है। धर्म की भी यही दशा है। यद्यपि देश-काल तथा परिस्थिति की छाप आधुनिक धर्म पर लग चुकी है, फिर भी कई बातों में हम लोग मध्य-युग के धर्म से अभी तक बहुत ही कम अग्रसर हो पाये हैं।

विश्लेषणात्मक ढंग से हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर विचार करने से यह बात विदित होती है कि हिन्दी साहित्य पर वैदिक-काल का प्रभाव नहीं के बराबर है। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदासजी ने अनेक स्थलों पर वेद की दुहाई दी है, किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि गोस्वामीजी संहिताओं से विशेष परिचित नहीं थे, कम से कम इसका कोई भी निश्चित प्रमाण उनकी रचनाओं से उपलब्ध नहीं होता है।

हिन्दी की उत्पत्ति के बहुत काल पूर्व बौद्ध तथा जैन धर्म का एक प्रकार से भारत से लोप हो चुका था। ऐसी दशा में हिन्दी-साहित्य पर इन दोनों धर्मों के स्पष्ट प्रभाव का पता न लगना स्वाभाविक है। अब रह गया पौराणिक धर्म, इसका प्रभाव अवश्य विशेष रूप से हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है। राम तथा कृष्ण दोनों विष्णु के अवतार हैं और इन दोनों को लेकर मध्य युग तथा आधुनिक काल में अनेक रचनाएँ हिन्दी-साहित्य में प्रस्तुत की गई हैं।

तान्त्रिक धर्म का प्रभाव पूरब की ओर विशेष रूप से था। बंगाल में शक्ति की उपासना का प्रादुर्भाव इसी के परिणाम-स्वरूप था। आगे चलकर वैष्णवों की 'राधा' का उपासना पर भी इस तान्त्रिक धर्म का प्रभाव पड़ा।

वासुदेव-सुधार की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वास्तव में वैष्णव धर्म तथा बाद के भक्ति सम्प्रदायों का मूल-स्रोत यही था। हिन्दी-साहित्य का इस भक्ति-सम्प्रदाय से अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। हमारा प्राचीन हिन्दी-साहित्य एक प्रकार से धार्मिक साहित्य है। उसमें शिव का रूप गौण है। प्रधान रूप से विष्णु का रूप ही भक्ति के लिए उपयुक्त समझा गया। अतएव राम तथा कृष्ण के अवतारों के रूप में त्रयी के विष्णु का प्राधान्य

मिलता है। यद्यपि संहिता तथा उपनिषदों तक में भक्ति की चर्चा मिलती है, किन्तु इसका विशेष विकास तो पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में ही हो सका।

आधुनिक युग में धर्म का प्रभाव क्षीण हो रहा है। अतएव आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भी धार्मिकता का विशेष पुट नहीं है। आजकल हिन्दी में रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक वाद प्रचलित हैं। यदि इन वादों में कहीं ईश्वर की सत्ता है भी, तो निर्गुण रूप में ही है, इधर कवीन्द्र रवीन्द्र पर कबीर की गहरी छाप पड़ी और आधुनिक हिन्दी कविता बंगाली रचनाओं से बहुत कुछ प्रभावित हुई है। इस प्रकार धर्म के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि पौराणिक तथा भक्ति-धाराएँ ही प्रधानतया हिन्दी कवियों के सम्मुख उपस्थित रही हैं।

जैसी परिस्थिति हम धार्मिक प्रभावों के सम्बन्ध में पाते हैं लगभग वैसी ही परिस्थिति साहित्य के क्षेत्र में भी पायी जाती है। वैदिक साहित्य का हिन्दी साहित्य पर कुछ भी प्रभाव नहीं है। शैली, छन्द तथा साहित्यिक आदर्श, किसी भी रूप में, वैदिक साहित्य का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर दृष्टिगोचर नहीं होता, पौराणिक साहित्य से हिन्दी-साहित्य अवश्य ही प्रभावित हुआ है। पुराणों में श्रीमद्भागवत ने विशेष रूप से हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया। कथानक के रूप में रामायण तथा महाभारत से भी हिन्दी-साहित्य बहुत प्रभावित हुआ है। राम तथा कृष्ण-काव्य-सम्बन्धी अनेक आख्यान संस्कृत-इतिहास और पुराणों से हिन्दी-साहित्य में लिये गये हैं।

संस्कृत-साहित्य का मध्ययुग वास्तव में महाकाव्यों का युग था। इस काल में संस्कृत में अनेक महाकाव्यों, खण्डकाव्यों तथा नाटकों की रचनाएँ हुईं। साधारणतया इन महाकाव्यों का भी प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है। यह बात दूसरी है कि हिन्दी के महाकाव्यों में मानवजीवन की उस अनेकरूपता का एक प्रकार से अभाव है जो संस्कृत महाकाव्यों में स्वाभाविक रूप में वर्तमान है। केशव की राम-

चंद्रिका लक्षण ग्रन्थों के अनुसार महाकाव्य अवश्य है; किन्तु उसमें जीवन की वे परिस्थितियाँ कहाँ—जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित हैं। संस्कृत के रीति-ग्रन्थों का भी हिन्दी-रीति-ग्रन्थों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के कई रीति-ग्रन्थ तो संस्कृत काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों के केवल रूपान्तर मात्र हैं।

विचार करने से यह बात स्पष्ट विदित होती है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य का रूप अभी तक अव्यवस्थित तथा अस्थिर है। इस युग के प्रायः अधिकांश नाटक संस्कृत के अनुवाद मात्र हैं। मौलिक नाटकों की रचना का यद्यपि हिन्दी में आरम्भ हो चुका है, तथापि मौलिकता की जड़ें पक्की नहीं हो पाई हैं। हिन्दी के कई नाटकों पर द्विजेन्द्रलाल की शैली की स्पष्ट छाप है। बर्नर्ड शा जैसे अंग्रेजी के आधुनिक नाट्यकारों का अनुकरण भी दिनदिन बढ़ रहा है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी नाटक तेजी से आधुनिकता की ओर झुक रहे हैं।

एक स्थान पर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य का एक पैर अभी तक मध्ययुग में है। यह बात प्राचीन परिपाटी के नवीन काव्य-ग्रन्थों से स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है। आधुनिक ब्रजभाषा के अधिकांश काव्य-ग्रन्थों में धार्मिकता तथा साहित्यिकता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। रीति-ग्रन्थों का भी लोप नहीं हुआ। अभी हाल ही में 'हरिऔध' ने 'रसकलस' के रूप में इस विषय पर एक वृहत्-ग्रन्थ हिन्दी-साहित्यिकों के लिए प्रस्तुत किया है।

हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करनेवालों को एक बात विशेष रूप से खटकती है और यह है राजनीति तथा समाज की ओर कवियों की उपेक्षा-वृत्ति। कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचना में तत्कालीन परिस्थितियों के सजीव चित्र की अभिव्यञ्जना रहती है। किन्तु जब हम इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य, विशेषतया पद्यात्मक रचनाओं का सिंहावलोकन करते हैं तो हमें बहुत निराश होना पड़ता है। यह परिस्थिति कुछ कुछ पहले भी थी और आज भी विद्यमान है। सूरदास, नन्ददास, आदि कृष्ण-

भक्त तथा बाद के आचार्य कवियों के अध्ययन से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि मानो इन्हें देश, जाति तथा समाज से कोई वास्ता ही न था। मथुरा-वृन्दावन आगरे के अत्यन्त समीप हैं, किन्तु देश की राजनीतिक समस्याओं का इन भक्त कवियों की रचना पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। हिन्दियों तथा हिन्दी-साहित्य दोनों के लिए यह दुर्भाग्य की बात है। जब हम मध्यकाल के मराठी-साहित्य का अनुशीलन करते हैं तो उसमें देश-प्रेम तथा जातीयता की भावना पर्याप्त मात्रा में पाते हैं। शिवाजी के राज-नीतिक गुरु समर्थ रामदास में तो देश तथा जातीयता के भावों का बाहुल्य था। हिन्दी के मध्ययुग में लाल तथा भूषण दो ही ऐसे प्रधान कवि हैं, जिनमें इस प्रकार के कुछ भाव विद्यमान हैं—यद्यपि इनका दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण है। आज भी हिन्दी के ललित साहित्य में राजनीति समाज की उपेक्षा हो रही है। नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों में सामाजिक अंग पर अब कुछ प्रकाश पड़ने लगा है। किन्तु हमारे आधुनिक कवि तथा लेखक राजनीतिक सिद्धान्तों और समस्याओं की ओर न जाने क्यों आकृष्ट नहीं होते। इसके लिए देश की वर्तमान परिस्थिति को ही हम दोषी ठहराकर उन्मुक्त नहीं हो सकते। किसी भी देश के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश की संस्कृति के विविध अंगों तथा समस्त प्रमुख सम स्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय।

हिन्दी-साहित्य में आगे चलकर कौन विचारधारा प्रधान रूप से प्रवा-हित होगी, इसे निश्चित रूप से बतलाना अत्यन्त कठिन है; किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी वर्तमान अवस्था में अवश्य परि-वर्तन होगा। देश में प्राचीन संस्कृति की नींव अभी गहरी है। अतएव नवीन नींव की हमें आवश्यकता नहीं। आज तो केवल इस बात की आव-श्यकता है कि प्राचीन नींव पर ही हम नवीन सुदृढ़ भवन निर्माण करें।

———

सुमित्रानन्दन पन्त

# सुमित्रानन्दन पंत

(जन्म १९०१ ई०)

खड़ी बोली के युगविधायक कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत अल्मोड़े के कौसानी नामक गाँव में उत्पन्न हुए और शैलमालाओं की नैसर्गिक विभूति में लिपटे हुए शैशव व्यतीत किया। मैट्रिक तक काशी और तदनन्तर प्रयाग में आपने शिक्षा प्राप्त की। कविता की अनुभूति एवं प्रेरणा उन्हें प्रकृति की गोद में ही मिली और अपनी कोमल कल्पनाओं से रंजित कविताओं के द्वारा वे शीघ्र ही साहित्य-जगत् में प्रसिद्ध हो गए। तब से बराबर वे कविता करते आ रहे हैं और उनकी कविताओं के अनेक संग्रह निकल चुके हैं। प्रायः दो वर्षों से पंत जी अखिल भारतीय रेडियो में एक उच्च पद पर नियुक्त हैं और अधिकतर प्रयाग में ही रहते हैं। 'पल्लव', 'गुंजन', 'युगवाणी', 'युगान्त', 'ग्राम्या', 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' आदि आपकी कविताओं के संग्रह हैं।

पंत जी यद्यपि कवि रूप में ही जाने जाते हैं, किन्तु 'ज्योत्स्ना' नाटक में, 'पल्लव' की भूमिका में तथा अन्यत्र आपके गद्य के जो नमूने मिलते हैं उनका शैली की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। चिन्तन और भावुकता का, विचार और कल्पना का, तथ्य और काव्यात्मकता का ऐसा अपूर्व संगम गद्य में कम ही देखने को मिलेगा। भाषा सर्वत्र उपमा और रूपक का सहारा लिए हुए चलती है। उपमान इतने उपयुक्त होते हैं कि भावना सजीव हो उठती है। भाषा की लाक्षणिक शक्ति का प्रचुरता से उपयोग किया गया है। शब्दों के चयन में भी ध्वनि एवं संगति का विशेष ध्यान रखा गया है। भाषा में शक्ति, सजीवता और सरसता है। यथावसर मार्मिक व्यंग के छींटे भी छोड़े गए हैं जो शिष्टता से मर्यादित हैं। पंत जी के गद्य में काव्य का सा आनन्द आता है।

प्रस्तुत पाठ 'पल्लव' नामक काव्य-संग्रह की भूमिका से अवतरित किया गया है। इसमें पंत जी ने व्रजभाषा काव्य की शक्ति और दुर्बलता का बड़े ही काव्यमय ढंग से वर्णन किया है। तथ्य के साथ साथ शैली का आकर्षण अनुपमेय है।

---

# ब्रज-भाषा-काव्य

उस ब्रज की बाँसुरी में अमृत था, नन्दन की मधु ऋतु थी, उसमें रसिक श्याम के प्रेम की फूँक थी; उसके जादू से सूरसागर लहरा उठा, मिठास से तुलसी-मानस* उमड़ चला! आज भी वह कुछ हाथों की तूँबी बनी हुई है, जो प्राचीन जीर्ण-शीर्ण खण्डहरों के टूटे-फूटे कोनों तथा गन्दे छिद्रों से दो एक दन्त-हीन बूढ़े साँपों को जगा, उनका अन्तिम जीवन-नृत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरने, तथा प्रवीण कला-कुशल बाजीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे हैं; दस बरस बाद, ये प्राण-हीन केंचुलियाँ, शायद, इनके आँख झाड़ने के काम आयँगी। लेकिन, यह अपवाद ही खड़ी-बोली की विजय का प्रमाण है। अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पाञ्चजन्य उठा लिया; सुप्त-देश की सुप्त-वाणी जाग्रत हो उठी, खड़ी-बोली उस जाग्रति की शंख-ध्वनि है। ब्रज-भाषा में नींद की मिठास थी, इसमें जाग्रति का स्पन्दन; उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय-ज्योत्स्ना, इसमें दिवस का सशब्द कार्य-व्यग्र प्रकाश।

ब्रज-भाषा के मोम में भक्ति का पवित्र-चित्र, उसके माखन में शृङ्गार की कोमल करुण-मूर्ति खूब उतरी है। वह सुख-सम्पन्न भारत के हृत्तन्त्री की झङ्कार है, उसके स्वर में शान्ति, प्रेम, करुणा है। देश की तत्कालीन मानसिक और भौतिक-शान्ति ही ब्रज-भाषा के रूप में बदल गई। वह था सम्राट अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ का सुव्यवस्थित-राज्यकाल; जिनकी निर्द्वन्द्व छत्र-छायामें उनकी शान्तिप्रियता, कला-प्रेम तथा शासन-प्रबन्ध-रूपी विपुल खाद्य-सामग्री पाकर चिर-काल से पीड़ित भारत एक बार फिर विविध ऐश्वर्य्यों में लहलहा उठा। राजा महाराजाओं ने स्वयं अपने हाथोंसे

---

* ब्रज-भाषा से मेरा अभिप्राय प्राचीन साहित्यिक-हिन्दी से है, जिसमें 'अवधी' भी शामिल है।

सङ्गीत, शिल्प, चित्र तथा काव्य-कला के मूलों को सींचा, कलाविदों को तरह-तरह से प्रोत्साहित किया। सङ्गीत की आकाश-लता अनन्त-झङ्कारों में खिल-खिलकर समस्त वायु-मण्डल में छा गई, मृग चरना भूल गये, मृग-राज उनपर टूटना। तानसेन की सुधा-सिञ्चित राग-रागिनियाँ—जिन्हें कहीं शेषनाग सुन ले तो उसके सिर पर रक्खे हुए धरा मेरु डाँवाडोल हो जायँ, इस भय से विधाता ने उसे कान नहीं दिये—अभीतक हमारे वसन्तोत्सव में कोकिलाओं के कण्ठों से मधुस्रवण करती हैं। शिल्प तथा चित्र-कलाओंकी पावस हरीतिमा ने सर्वत्र भीतर-बाहर राजप्रासादों को लपेट लिया। चतुर चित्रकारों ने अपने चित्रों में भावों की वह सूक्ष्मता और सुकुमारता, सुरों की सजधज तथा सम्पूर्णता, जान पड़ता है, अपनी अनिमेष-चितवन की अचञ्चल-वरुनियों, अपने भाव-मुग्ध हृदय के तन्मय रोओं से चित्रित की। शाहज़ादा दारा का 'अलबम' चित्रकारी के चमत्कार की चकाचौंध है। शिल्पकला के अनेक शतदल दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि शहरों में अपनी सम्पूर्णता तथा उत्कर्ष में अमर और अम्लान खड़े हैं; ताजमहल में मानो शिल्पकला ही गलाकर ढाल दी गयी।

देव, बिहारी, केशव आदि कवियों के अनिन्द्य-पुष्पोद्यान अभीतक अपनी अमन्द-सौरभ तथा अनन्त-मधुसे राशि-राशि भौंरोंको मुग्ध कर रहे हैं;—यहाँ कूल, केलि, कछार, कुञ्जों में, सर्वत्र असुप्त-वसन्त शोभित है। बीचोबीच बहती हुई नीली-यमुना में, उसकी फेनोज्ज्वल चञ्चल तरङ्गों सी, असंख्य सुकुमारियाँ श्याम के अनुराग में डूब रही हैं। वहाँ बिजली छिपे-छिपे अभिसार करती, भौंरे सन्देश पहुँचाते, चाँद चिनगारियाँ बरसाता है। वहाँ छहों ऋतु कल्पना के बहुरंगी-पङ्खों में उड़कर, स्वर्ग की अप्सराओं की तरह, उस नन्दन-वन के चारों ओर अनवरत परिक्रमा कर रही हैं। उस "चन्द्रिकाधौतहर्म्या वसतिरलका" के आस-पास 'आनन-ओप-उजास' से नित प्रति पूनो ही रहती है। चपला की चञ्चल-डोरियोंमें पैंग भरते हुए नये बादलों के हिंडोरे पर झूलती हुई इन्द्र-धनुषी सुकुमारियाँ झरी की झमक और घटा की धमक में हिंडोरे की रमक मिला रही

हैं। वहाँ सौन्दर्य अपनी ही सुकुमारता में अन्तर्धान हो रहा, समस्त नक्षत्र-मण्डल उसके श्री-चरणों पर निछावर हो नखावलि बन गया; अलङ्कारों की झनक ने देह-वीणा से फूटकर रूप को स्वर दे दिया है। वहाँ फूलों में काँटे नहीं, फूल ही विरह से सूखकर काँटों में बदल गये हैं;—वह कल्पना का अनिर्वचनीय इन्द्रजाल है, प्रेम के पलकों में सौन्दर्य का स्वप्न है, मर्त्य के हृदय में स्वर्ग का बिम्ब है, मनोवेगों की अराजकता है। सच है, "पल-पल पर पलटन लगे जाके अङ्ग अनूप" ऐसी उस ब्रज-बाला के स्वरूप को कौन वर्णन कर सकता है? उस माधुर्य की मेनका की कल्पना का अञ्चल-छोर उसके उपासकों के श्वासोच्छ्वासों के चार-वायु में उड़ता हुआ, नीलाकाश की तरह फैलकर, कभी आध्यात्मिकता के नीरव-पुलिनों को भी स्पर्श कर आता है, पर कामना के झोंके शीघ्र ही सौ-सौ हाथों से उसे खींच लेते हैं। वह ब्रज के दूध-दही और माखन से पूर्ण-प्रस्फुटित-यौवना अपनी बाह्य-रूप-राशि पर इतनी मुग्ध रहती है कि उसे अपने अन्तर्जगत् के सौन्दर्य के उपभोग करने, उसकी ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं मिलता; निःसन्देह, उसका सौन्दर्य अपूर्व है, भाषातीत है,—यह उस युग का नन्दन-कानन है। जहाँ सौन्दर्य की अप्सरा अपनी ही छवि की प्रभा में स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करती है। अब हम उस युग का कैलास देखेंगे जहाँ सुन्दरता मूर्तिमती तपस्या बनी हुई, कामना की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो, प्रेम की लोकोज्ज्वल-कारिणी स्निग्ध-चन्द्रिका में, संयम की स्थिर दीप-शिखा-सी, शुद्ध एवं निष्कलुष सुशोभित है। वह उस युग का शत शत ध्वनिपूर्ण कल्लोलों में विलोड़ित बाह्य-स्वरूप है, यह उसका गम्भीर, निर्वाक् अन्तस्तल!

जिस प्रकार उस युग के स्वर्ण-गर्भ से भौतिक सुख-शान्ति के स्थापक प्रसूत हुए, उसी प्रकार मानसिक सुख-शान्ति से शासक भी; जो प्रातः-स्मरणीय पुरुष इतिहास के पृष्ठों पर रामानुज, रामानन्द, कबीर, महाप्रभु वल्लभाचार्य, नानक इत्यादि नामों से स्वर्णाङ्कित हैं; इतिहास के ही नहीं, देश के हृत्पृष्ठ पर उनकी अक्षय अष्ट-छाप, उसकी सभ्यता के वक्ष पर उनका श्रीवत्स-चिह्न अमिट और अमर है। इन्हीं युग-प्रवर्तकों के गम्भीर

अन्तस्तल से ईश्वरीय-अनुराग के अनन्त-उद्गार उमड़कर, देश के आकाश में घनाकार छा गये। ब्राह्मणों के शुष्क-दर्शन-तत्त्वों की ऊष्मा से नीरस, निष्क्रिय-वायु-मण्डल भक्ति के विशाल श्यामघन से सरस तथा सजल हो गया; रामकृष्ण के प्रेम की अखण्ड रस-धाराओं ने, सौ-सौ बौछारों में बरस, भारत का हृदय प्लावित तथा उर्वर कर दिया। एक ओर सूर-सागर भर गया, दूसरी ओर तुलसीमानस !

सीही के उस अन्तर्नयन सूर का सूरसागर ? वह अतल, अकूल, अनन्त प्रेमाम्बुधि ?—उसमें अमूल्य-रत्न हैं ! उसकी प्रत्येक-तरङ्ग श्याम की वंशी की भुवन-मोहिनी-तान पर नाचती, थिरकती, भक्तों के भूरि-हृत्स्पन्दन से ताल मिलाती, मँझधार में पड़ी सौ-सौ पुरानी नावों को पार लगाती, असीम की ओर चली गई है ! वह भगवद्भक्ति के आनन्दाधिक्य का जल-प्रलय है, जिसमें समस्त-संसार निमग्न हो जाता है। वह ईश्वरीय-प्रेम की पवित्र भूलभुलैया है, जिसमें एक बार पैठकर बाहर निकलना कठिन हो जाता है। कुएँ में गिरे हुए को जदुपति भले ही बाँह पकड़कर निकाल सकें, पर जो एक बार "सागर" में डूब जाता है उसे सूर के श्याम भी बाहर नहीं खींच सकते ! सूर-सूर की वाणी ! भारत के "हिरदै सों जब जाइहौ मरद बदौंगो तोहि !"

और रामचरितमानस ? उस "जायो कुल मङ्गल" का "रत्नावली" से ज्योतित मानस ? उस—

"जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन, सकलङ्क,

उन सन समता पाय किमि, चन्द्र बापुरो रङ्क"—"तुलसी, शशी" की उज्ज्वल ज्योत्स्ना से परिपूर्ण मानस ? वह हमारी सनातनधर्म-प्राण जातीयता का अविनश्वर सूक्ष्म-शरीर है। आर्य-सभ्यता का विशाल-आदर्श है, जिसमें उनका सूर्योज्ज्वल-मुख स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। वह तुलसीदासजी के निर्मल मानस में अनन्त का अक्षय प्रतिबिम्ब है। उसकी सौ-सौ तारक-चुम्बित सरल-तरल-वीचियों के ऊपर जो शक्ति का अमर सहस्रदल विकसित है, वह मर्यादापुरुषोत्तम की पवित्र-पद-रेणु से परिपूर्ण है ! मानस इतिहास में महा-

काव्य, महाकाव्य में इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय-अनुराग का नक्षत्रोज्ज्वल ताजमहल है, जिसमें श्री सीताराम की पुण्य-स्मृति चिरन्तन सुति में जाग्रत है।——ये दोनों काव्य-रत्न भारती के अक्षय-भण्डार के दो सिंह-द्वार हैं, जो उस युग के भगवत्प्रेम की पवित्र धातु से ढाल दिये गये हैं।

जिन अन्य कवियों की पावन-वाणी से ईश्वरानुराग का अवशिष्ट-रस अनेक सरिता और निर्झरों के रूप में फूटकर व्रज-भाषा के साहित्य-समुद्र में भर गया, उनमें हम उस सखियों के सम्राट्, उस फूलों की देह के भगत कबीर साहब, उस लहरतारा के तालाब के गोत्र-कुल-हीन स्वर्ण-पङ्कज, उस स्वर्गीय-सङ्गीत के जुलाहे के साथ——जिसने अपने सूक्ष्म ताने-बाने में गगन का "शब्द-अनाहत" बुन दिया——एकान्त में अपने गोपाल की मूर्ति से बातें करनेवाली उस मीरा को भी नहीं भूल सकते। वह भक्ति के तपोवन की शकुन्तला है, राजपूताने के मरुस्थल की मन्दाकिनी है! उसने वासना के विष को पीकर प्रेमामृत बना दिया; उसने शब्दों में नहीं गाया, अपने प्रेमाधिक्य से भावना को ही वाणी के रूप में घनीभूत कर दिया, अरूप को स्वरूप दे दिया!——ऐसा था अपार उस युग के मधु का भाण्डार, जिसने व्रज-भाषा के छत्ते को लबालब भर दिया; उस अमृत ने उस भाषा को अमर कर दिया, उस भाषा ने उस अमृत को सुलभ!

पर उस व्रज के वन में झाड़-झंखाड़ करील-बबूर भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरों का बेसुरा-आलाप, उसके कृमिल-पङ्किल गर्भ में जीर्ण अस्थि-पञ्जर, रोड़े, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं। उसके बीचों बीच बहती हुई अमृत-जाह्नवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका-तट है, उसमें विलास की मृग तृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट-पद-चिह्न, कालानिल के झोकों से बचे हुए, यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। उस व्रज की उर्वशी के दाहने हाथ में अमृत का पात्र, और बायें में विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक-पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गुदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार सङ्कीर्णताएँ हैं!

अधिकांश भक्त-कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में

समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की सङ्कीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी में बह गये; बड़े परिश्रम से कोई पार भी गये तो ब्रज से द्वारका तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई! रूप के उस श्यामावरण के भीतर झाँक न सके; अनन्त नीलाकाश को एक छोटे से तालाब के प्रतिबिम्ब में बाँधने के प्रयत्न में स्वयं बँध गये। सहस्र दादुर उसमें छिपकर टर्राने लगे; समस्त वायुमण्डल घायल हो गया, यमुना की नीली नीली लहरें काली पड़ गईं। भक्ति के स्वर में भारत की जन्मजन्मान्तर की सुप्त मूक आसक्ति बाधाविहीन बौछारों में बरसा दी। ईश्वरानुराग की बाँसुरी अन्धबिलों में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़-छेड़ कर नचाने लगी। श्याम तथा राधा की खोज में, सौ-सौ यत्नों में लपेटी हुई देश की समस्त आबाल-वृद्धाएँ नग्नप्राय कर, भारतीय-गृहस्थ के बन्द-द्वारों से बाहर निकाल दीं; उनके कभी इधर-उधर न भटकनेवाले सुकुमार पाँव संसार के सारे विषपूर्ण काँटों से जर्जरित कर दिये। गृह-लक्ष्मियाँ दूतियाँ बन गईं।

शृङ्गार-प्रिय कवियों के लिए शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर "नायिका" के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से लिपट गई। बाल्यकाल से वृद्धावस्था पर्यन्त,—जब तक कोई 'चन्द्रवदनि मृग-लोचनी' तरस खाकर, उनसे 'बाबा' न कह दे,—उनकी रस-लोलुप सूक्ष्मतम-दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिणी-ध्रुव से उत्तरी-ध्रुव तक, यात्रा कर सकी! ऐसी विश्व-व्यापी अनुभूति! ऐसी प्रखर-प्रतिभा! एक ही शरीर-यष्टि में समस्त-ब्रह्माण्ड देख लिया! अब इनकी अक्षय कीर्ति-काया को जरामरण का भय? क्या इनकी "नायिका," जिसके वीक्षण-मात्र से इनकी कल्पना तिलक की डाल की तरह खिल उठती थी, अपने सत्यवान को काल के मुख से न लौटा लायेगी?

इसी विराट्-रूप का दर्शन कर ये पुष्प-धनुषधर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश की वासना के बीभत्स समुद्र को मथकर इन्होंने कामदेव को नव-जन्म दान दे दिया, वह अब सहज ही भस्म हो

सकता है ? इन वीरों ने ऐसा सम्मोहनास्त्र देश के आकाश में छोड़ा कि सारा संसार कामिनीमय हो गया ! 'एक के भीतर बीस' डिब्बेवाले खिलौने की तरह, एक ही के अन्दर सहस्र-नायिकाओं के स्वरूप दिखला दिये। सारे देश को, जादू के बल से, कामना के चमकीले पारे से मढ़े हुए कच्चे काँच के टुकड़ों का एक ऐसा विचित्र अजायब-घर, 'सब जग जीतन को' काम का ऐसा 'काय-व्यूह-शीशमहल' बना दिया कि आर्य-नारी की एकनिष्ठ, निश्चल, पवित्र प्रतिमा वासनाओं के असंख्य रङ्ग-बिरङ्गी बिम्बों में बदल गई,—जिनकी भूलभूलैया में फँस कर, देश के लिए अपनी सरल सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया !

और इनकी वियोग-वह्नि ने क्या किया ? इनकी और्व के नेत्रों की ज्वाला-सी आह ने ? देश की प्राण-सञ्चारिणी, शक्ति-सञ्जीवनी वायु को ग्रीष्म की प्रचण्ड लू में बदल दिया ! सकल सद्भावनाओं के सुकुमार पौधे जलकर क्षार हो गये; शान्ति, सुख, स्वास्थ्य, सदाचार सब भस्म हो गये; पवित्र प्रेम का चन्दन-पङ्क सूख गया; भारत का मानस भी दरक गया; और उसकी सती इन कवियों की नुकीली लेखनी से उस गहरी खुदी हुई दरार में समा गई; शक्ति की कमर खो गई, समस्त दुर्बलता का नाम अबला पड़ गया !

ऐसी थी इनकी बीभत्स, विकार-ग्रस्त विलासपुरी ! और इनकी भाषालङ्कारिता ? जिसकी रङ्गीन डोरियों में वह कविता का हैंगिंग गार्डन— वह विश्व-वैचित्र्य झूलता है, जिसके हृत्पट पर वह चित्रित है ?

बहत्तर-ग्रन्थों के रचयिता, 'नभ-मण्डल' के समान देव; 'देखन के छोटे लगें घाव करें गम्भीर' तीर छोड़नेवाले कुसुमायुध बिहारी, जिन्हें 'तरुनाई आई सुखद बसि मथुरा सुसराल'; रामचन्द्रिका के इक्कीस पाठ कर मुक्त होनेवाले, कठिन-काव्य के प्रेत, पिङ्गलाचार्य, भाषा के मिल्टन, उडगन-केशवदासजी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करनेवाले मतिराम, पद्माकर, बेनी, रसखान आदि—जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियों में से जिनकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सबमें अधिक-तर वही कदली के स्तम्भ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक,

खञ्जन, शङ्ख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चन्द्र; चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह छोड़ना, रोमाञ्चित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना;—बस इसके सिवा और कुछ नहीं ! सबकी आँवड़ियों में कुत्सित-प्रेम का फुहारा शत-शत रस-धारों में फूट रहा है; सीढ़ियों पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक सङ्ग रपट पड़ती, कभी नीर भरी गगरी ढरका देती है ! वीथियों में पराई पीर न जाननेवाली स्वच्छन्द दूती विचर रही है, जिसका 'धूतपन' वापी नहाने का बहाना करने पर भी स्वेद की अधिकाई तथा पीक-लीक की ललाई के कारण प्रकट हो ही जाता है; कुञ्जों से उद्दाम-यौवन की दुर्गन्ध आ रही है, जिनके सघन-पत्रों के झरोखों से 'दीरघ-दृग' प्रीतम की बाट में दौड़ लगा रहे हैं।

भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक-स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है ? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त सङ्गीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया। और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया !—आँख की उपमा ? खञ्जन, मृग, कञ्ज, मीन इत्यादि; होठों की ? किसलय, प्रवाल, लाल, लाख इत्यादि; और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की ? शुक, दादुर, ग्रामोफोन इत्यादि। ब्रज-भाषा के उन्नत भाल में इन कविवरों की लालसा के साँप, इनकी उपमाओं के शाप-भ्रष्ट नहुष, इसके कोमल-वक्ष में इनके अत्याचार के नख-क्षत, उसके सुकुमार अङ्गों में इनकी वासना का, विरहाग्नि का असह्य-ताप सदा के लिए बना ही रहेगा ! उसकी उदार-छाती पर इन्होंने पहाड़ रख दिया ! ऐसा किमाकार-रूप उस युग के आदर्श ने ग्रहण किया कि यदि काल ही अगस्त्य की तरह उसका शिखर भू-लुण्ठित न कर देता तो उस युग की उच्छृंखलता के विन्ध्य ने, मेरु का स्वरूप धारण करने की चेष्टा में, हमारे 'सूर', 'शशि' की प्रभा को भी पास आने से रोक लिया होता !

इस तीन फुट के नख-शिख के संसार से बाहर ये कवि-पुङ्गव नहीं जा सके। हास्य, अद्भुत, भयानक आदि रसों के तो लेखनी को,—नायिका के अङ्गों को चाटते चाटते रूप की मिठास से बँध रहे मुँह को खोलने, खखारने के लिए—कभी कभी कुल्ले मात्र करा दिये हैं। और वीर तथा रौद्र-रस की कविता लिखने के समय तो व्रज-भाषा की लेखनी भय के मारे जैसे हकलाने लगती है। दो एक भूषणादि रसावतारों को, जिन्हें मूछों पर हाथ फिरवा देने का दावा रहा है, जिन्होंने एक लाख रुपये के नोन की तीव्रता शायद अपनी कविता ही में भर दी, और जिनका हृदय "सस्सस्सुन धुन, जज्जकि जन, डड्डुडुरि हिय, धद्धद्धड़कत" इत्यादि अनुप्रासों के कम्पज्वर की उच्छृङ्खल-बड़बड़ाहट को सुनकर 'धद्धद्धड़कने' लगा, अपनी वीर-गर्भा कविता के कवच में इधर-उधर से कड़ी कड़ियाँ छान बीन कर लगानी पड़ीं।

यह है केवल दिग्दर्शन-मात्र, नयन-चित्र मात्र। यह अस्वाभाविक नहीं कि उस तीन चार शताब्दियों के ओर-छोर व्यापी विशालयुग का संक्षिप्त सिंहावलोकन-मात्र करने में मुझसे उसके स्वर्ण-सिंहासनासीन भारती के पुत्र-रत्नों के अमर सम्मान की यथेष्ट रक्षा न हो सकी हो; पर मेरा उद्देश्य, केवल, व्रज-भाषा के अलङ्कृत-काल के अन्तर्देश में अन्तर्हित उस काव्यादर्श के बृहत्-चुम्बक की ओर इङ्गित भर कर देने का रहा है, जिसकी ओर आकर्षित होकर उस युग की अधिकांश शक्ति तथा चेष्टाएँ काव्य की धाराओं के रूप में प्रवाहित हुई हैं। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि उस युग की वाणी में जो कुछ सुन्दर, सत्य तथा शाश्वत है उसका जीर्णोद्धार कर, उस पर प्रकाश डाल, तथा उसे हिन्दी-प्रेमियों के लिए सुलभ तथा सुगम बना, हमें उसका घर घर प्रचार करना चाहिए। जो ज्ञान-वृद्ध, वयोवृद्ध, काव्यमर्मज्ञ उस ओर झुके हैं उनके ऋण से हिन्दी कभी उन्मुक्त नहीं हो सकेगी।

———

# पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

(जन्म १९०१ ई०)

उग्र जी मिर्जापुर जिले के निवासी हैं। आरम्भ में आप मिर्जापुर से निकलनेवाले 'मतवाला' नामक पत्र के सम्पादक रहे। अपनी ओजमयी एवं आकर्षक लेखशैली तथा यथार्थवादी विचारधारा के कारण उग्र जी वहुत ही शीघ्र हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रसिद्ध हो गए। उनमें उच्च कोटि की विधायक प्रतिभा है, परख है, अनुभूति है और सरस व्यंजना शक्ति है। इनके उपन्यास अधिकतर यथार्थवादी हैं। इनके नाम हैं—'दिल्ली का दलाल', 'वुधुवा की वेटी', 'चन्द हसीनों के खतूत', 'सरकार तुम्हारी आँखों में'। कई नाटक और कहानी-संग्रह भी निकल चुके हैं। कुछ दिनों से उग्र जी फिर से 'मतवाला' निकालने लगे हैं।

उग्र जी की सवसे बड़ी विशेषता है उनकी भाषा की शक्ति एवं सजीवता। आपकी रचनाओं को पढ़ते समय प्लैटफार्म पर खड़े होकर दिए गए ओजपूर्ण भाषण का स्मरण हो जाता है। ऐसा लगता है कि लेखक एक ही साँस में, पूर्ण आवेश के साथ अपने हृदय के उद्गार व्यक्त कर देना चाहता है। प्रत्येक वाक्य नपा-तुला होता है और वाक्यों में ऐसा आन्तरिक सम्वन्ध होता है कि बीच से एक भी वाक्य हटाने से शैली का सम्पूर्ण आकर्षण नष्ट हो जाता है। भावों के वेग के कारण शैली में भी वड़ा वेग आ जाता है। उग्र जी की भाषा में अधिकतर वोलचाल के शब्द ही प्रयुक्त होते हैं किन्तु वाक्यों में न्यस्त होकर, उनमें अद्भुत कान्ति एवं शक्ति आ जाती है। यथावसर संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी सभी प्रकार के शब्दों का व्यवहार उग्र जी करते हैं। कथन-प्रणाली में वड़ी ही प्रगल्भ भाव-व्यंजना एवं भावावेश की प्रवलता पाई जाती है।

प्रस्तुत पाठ में एक वूढ़े के मुँह से उसके क्षोभ का वड़ा ही हृदयग्राही वर्णन कराया गया है। इसमें भाव-विचार और कल्पना का वड़ा ही अनूठा मेल है। पाठक को काव्य का सा आनन्द आता है।

---

# बुढ़ापा

( १ )

लड़कपन के खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूलकर हँस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूटकर रो रही है। उस "खोने" में दुःख नहीं, सुख था, सुख ही नहीं, स्वर्ग भी था। इस "पाने" में सुख नहीं दुःख है; दुःख ही नहीं नरक भी है! लड़कपन का खोना—वाह! वाह!! बुढ़ापे का पाना—हाय! हाय!!

लड़कपन स्वर्गदुर्लभ सरलता से कहता था—"मैया, मैं तो चन्द खिलौना लैहौं।" जवानी देवदुर्लभ प्रसन्नता से कहती थी—"दौर में साग़िर रहे गर्दिश में पैमाना रहे।" और, "अंगं गलितं पलितं मुण्डम्" वाला बुढ़ापा, भवसागर के विकट थपेड़ों से व्यग्र होकर, कहता है—"अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल!"

कौन कहता है कि जीवन का अर्थ उत्थान है, सुख है, हा हा हा हा है? यह सब सुफ़ेद झूठ है, कोरी कल्पना है, प्रवञ्चना है। मुझसे पूछो। मेरे तीन सौ पैंसठ लम्बे-लम्बे दिनों और लम्बी-लम्बी रातोंवाले एक, दो, दस, बीस नहीं—साठ वर्षों से पूछो। मेरे कटु अनुभव से पूछो। मेरी लाग़री से पूछो, दुर्बलता से पूछो। वे तुम्हें, दुनिया के बालकों और जवानों को, बतलायेंगे कि जीवन का अर्थ "वाह" नहीं, "आह" है; हँसी नहीं, रोदन है; स्वर्ग नहीं, नरक है!

लड़कपन ने पन्द्रह वर्षों तक घोर तपस्या कर क्या पाया? —जवानी के रूप में सर्वनाश, पतन। जवानी ने बीस वर्षों तक; कभी धन के पीछे, कभी रूप के पीछे, कभी यश के पीछे, और कभी मान के पीछे दौड़ लगाकर क्या हासिल किया?—वार्धक्य के लिफाफे में सर्वनाश, पतन! और—और अब यह बुढ़ापा घंटों नाक दबाकर ईश्वर-भजन कर,

सिद्धियों की साधना में दत्तचित्त होकर, खनननन का खज़ाना इकट्ठा कर, बेटों की "बटालियन" और बेटियों की "बेटरी" तैयार कर कौन-सी बड़ी विभूति अपनी मुट्ठी में कर लेगा?—वही सर्वनाश, वही पतन! मुझसे पूछो, मैं कहता हूँ—और छाती ठोककर कहता हूँ—जीवन का अर्थ है, "प...त...न!"

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। प्रातःकाल उदयाचल के मस्तक पर शोभित दिन-मणि कैसा प्रसन्न रहता है। सुन्दरी-उषा से होली खेल-खेलकर गङ्गा की बेला को, तरंगों को, मन्दमलयानिल को, नीलाम्बर को, दशों दिशाओं को और भगवती प्राची के अञ्चल को उन्माद से, प्रेम से और गुलाबी रंग से भर देता है। अपने आगे दुनियां का नाच देखते-देखते मूर्ख दिवाकर भी उसी रँग में रँगकर वही नाच नाचने लगता है। जीवन का अर्थ सुख और प्रसन्नता में देखने लगता है। मगर...मगर...?

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित, मूर्छित दिन-मणि कैसा अप्रसन्न, कैसा निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ—कम्पित करों वाला व्यथित बुढ़ापा भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं, शक्ति नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या फल मिलता है? सर्वनाश, पतन! उस पार—क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरंगों के पास—पतित सूर्य की रक्त-चिता जलती है। माथे पर सायंकाल-रूपी काला चांडाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिनी बहन पश्चिमा "आग" देती है। दिशाएँ व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती रहती हैं। प्रकृति में भयानक गम्भीरता भरी रहती है। पतित सूर्य की चिता की लाली से अनन्त ओतप्रोत रहता है।

उस समय देखनेवाले देखते हैं, ज्ञानियों को ज्ञात होता है कि जीवन का असली अर्थ, और कुछ नहीं, केवल सर्वनाश है।

(२)

कोरी बातों में दार्शनिक विचार रखनेवालों की कमी नहीं। कमी होती है कर्मियों की। बातों के दायरे से आगे बढ़नेवालों की।

जीवन का अर्थ पतन या सर्वनाश है, यह कह देना सहज है। दो-चार उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि कर देना भी कोई बड़ी बात नहीं। पर, पतन और सर्वनाश को आँखों के सामने रखकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना केवल दुरूह ही नहीं, असम्भव भी है।

उस दिन गली पार कर रहा था कि कुछ दुष्ट लड़कों की नज़र मुझपर पड़ी। उनमें से एक ने कहा—

"हट जाओ, हट जाओ! हनुमानगढ़ी से भागकर यह जानवर इस शहर में आया है। क्या अजीब शक्ल पाई है। पूरा किष्किन्धावासी मालूम पड़ता है।"

बस; बात लग गई। बूढ़ा हो जाने से ही इन्सान बन्दर हो जाता है? इतना अपमान? बूढ़ों की ऐसी अप्रतिष्ठा? झुकी हुई कमर को कुबड़ी के सहारे सीधी कर मैंने उन लड़कों से कहा—

"नालायक़ो! आज कमर झुक गयी है। आज आँखें कम देखने और कान कम सुनने के आदी हो गये हैं। आज, दुनिया की तस्वीरें भूले हुए स्वप्न की तरह झिलमिल दिखाई दे रही हैं। आज विश्व की रागिनी अतीत की प्रतिध्वनि की तरह अस्पष्ट सुनाई पड़ रही है। मगर, हमेशा यही हालत नहीं थी।"

"अभी छोकरे हो, लौंडे हो, बच्चे हो, नादान हो, उल्लू हो। तुम क्या जानो कि संसार परिवर्तनशील है। तुम क्या जानो कि प्रत्येक बालक अगर जीता रहा तो, जवान होता है। और प्रत्येक जवान, अगर जल्द खतम न हो गया तो, एक-न-एक दिन 'हनुमानगढ़ी का जानवर' होता है। लड़कपन और जवानी के हाथों बुढ़ापे पर जैसे अत्याचार होते हैं, यदि वैसे ही अत्याचार बुढ़ापा भी उन पर करने लगे, तो ईश्वर की सृष्टि की इति हो जाय। बच्चे जन्मते ही मार डाले जायँ। लड़के होश

सँभालते ही अपना पेट पालने के लिए, घर से बाहर निकाल दिये जायँ। संसार से, दादा के माल पर फ़ातेहा पढ़ने की प्रथा ही उठ जाय।

अब भी सौ में निन्यानबे धनी अपने बूढ़े बापों की कृपा से गद्दीदार बने हुए हैं। अब भी हज़ार में नौ सौ साढ़े निन्यानबे शौक़ीन जवानों के भड़कीले कपड़ों के दाम, कंघी, शीशा, ओटो, लवेंडर, सोप, पाउडर, पालिश, और शराब की बोतलों के पैसे बूढ़ों की गाढ़ी कमाई की थैली से निकलते हैं। अब भी संसार में दया, प्रेम, करुणा और मनुष्यता की खेती में पानी देनेवाला, कमज़ोर हृदय-वाला बुढ़ापा ही है, बेवक़ूफ लड़कपन नहीं, मतवाली जवानी नहीं...

फिर बूढ़ों का इतना अपमान क्यों? बुढ़ापे के प्रति ऐसी अश्रद्धा क्यों?"

मगर, उन लड़कों के कान तक मेरी दोहाई की पहुँच न हो सकी। सबने, एक स्वर से ताली बजा बजा कर, मेरी बातों की चिड़ियों को हवा में उड़ा दिया।

लड़के हू-हू हो-हो करते भाग खड़े हुए। मैं मुग्ध की तरह उनके अल्हड़पन और अज्ञान की ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखता ही रह गया। उस समय एकाएक मुझे उस सुन्दर स्वप्न की याद आई जो मैंने आज से युगों पूर्व लड़कपन और यौवन के सम्मेलन के समय देखा था। कैसा मधुर था वह स्वप्न!

(३)

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। संसार बुरा कहे या भला—परवाह नहीं। दुनिया मेरी हालत पर हँसे या जो करे—कोई चिन्ता नहीं। कोई खिलाड़ी हो तो सामने आये। मैं खेलूँगा।

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है—एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सुफेद बाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, काँपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन भर की गाढ़ी कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन् के हज़ार-हज़ार

रुपये, लाख-लाख गिन्नियाँ और गड्डियों नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पाँसे फेंकने को तैयार हूँ। सब कुछ देकर जवानी लेने को राज़ी हूँ। कोई हकीम हो तो सामने आये, उसे निहाल कर दूँगा; मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूँ—जवानी की दवा चाहता हूँ। कोई डाक्टर हो तो आगे बढ़े, मुँहमाँगा दूँगा। कह चुका हूँ, निहाल कर दूँगा; मालामाल कर दूँगा।

हर साल वसन्त आता है। बूढ़े-से-बूढ़ा रसाल माथे पर मौर धारणकर ऋतुराज के दरबार में खड़ा होकर झूमता है। सौरभ-सम्पन्न शीतल समीर मन्द-गति से प्रकृति के कोने-कोने में उन्माद भरता है। कोयल मस्त होकर "कुहू-कुहू" करने लगती है। मुहल्ले-टोले के हँसते हुए गुलाब—नवयुवक—उन्माद की सरिता में, सब कुछ भूलकर, विहार करने लगते हैं, खिलखिलाते हैं, धूम-चौकड़ी मचाते हैं, चूमते हैं, चुम्बित होते हैं, सिपटते हैं, लिपटते हैं—दुनिया के पतन को उत्थान का, और सर्वनाश को मङ्गल का जामा पहनाते हैं। और मैं—टका सा मुँह लिये, कोरी आँखों तथा निर्जीव हृदय से इस लीला को टुकर-टुकर देखा करता हूँ।

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है!

हर साल मतवाली वर्षा ऋतु आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनन्द और आमोद की तीव्र मदिरा का घड़ा ढुलकाया जाता है। लड़कपन मुग्ध होकर लोटपोट हो जाता है—"काले मेघा पानी दे!" जवानी पगली होकर गाने लगती है—"आई कारी बदरिया ना।" और मेरा बुढ़ापा? अभागा ऐसे स्वर्गीय सुख-भोग के समय कभी सर्दी के चंगुल में फँसकर खाँसता-खखारता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता है। सामने की परोसी हुई थाली भी हम—अपने दुर्भाग्य के कारण—नहीं खा सकते। तड़फ-तड़फकर रह जाते हैं; उफ़!

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है!

इस नरक से कोई मुझे बाहर कर दे, युवक बना दे। मैं आजन्म गुलामी करने को तैयार हूँ। बुढ़ापे की बादशाही से जवानी की गुलामी करोड़ दर्जा अच्छी है—हाँ-हाँ, करोड़ दर्जा अच्छी है। मुझसे पूछो, मैं जानता हूँ, मैं भुक्तभोगी हूँ, मुझ पर बीत रही है।

कोई यदु हो तो इस बूढ़े ययाति की सहायता करे, मैं मरने के पहले एक बार फिर उन आँखों को चाहता हूँ, जिन्हें बात-बात में उलझने, लगने, चार होने और फँसने का स्वर्गीय रोग होता है। इच्छा है एक बार किसी के प्रेम में फँसकर गाऊँ—

ठाढ़े रहे घनश्याम उतै, इत
मैं पुनि आनि अटा चढ़ि झाँकी
जानति हौ तुम हू व्रजरीति
न प्रीति रहै कबहूँ पल ढाँकी
"ठाकुर" कैसेहू भूतल नाहि नै
ऐसी अरी वा विलोकनि बाँकी
भावत ना छिन भौनको बैठिबो,
घूँघट कौन को ? लाज कहाँ की ?

इच्छा है, एक बार फिर किसी मनमोहन को हृदय-दान देकर, बैठे बिठाये, दुनिया की दृष्टि में व्यर्थ, परन्तु स्वर्गीय पागलपन को सिर चढ़ा कर, प्रार्थना करूँ—

रोज न आइये जौ मनमोहन,
तौ यह नेक मतौ सुन लीजिये
प्रान हमारे तुम्हारे अधीन
तुम्हें बिन देखे सु कैसे कै जीजिये
"ठाकुर" लालन प्यारे सुनौ
बिनती इतनी पै अहो चित दीजिये
दूसरे, तीसरे, पाँचवें, सातवें,
आठवें तो भला आइबो कीजिये

(४)

मगर, नहीं। वार्धक्य यह रोग नहीं, जिसकी दवा की जा सके। यह मर्ज़ ही ला-इलाज है। यह सर-दर्द ऐसा है कि सर जाए तो जाए, पर दर्द न जाए।

लड़कपन के स्वर्ग का विस्मृतिमय अद्वितीय सुख देख चुका। जवानी की अमरावती में विविध भोग-विलास कर चुका। अब बुढ़ापे के नरक में आया हूँ। भोगना ही पड़ेगा। इस नरक से मनुष्य की तो हस्ती ही क्या है, ईश्वर भी छुटकारा नहीं दिला सकता। बुढ़ापा वह पतन है जिसका उत्थान केवल एक बार होता है—और वह होता है—दहकती हुई चिता पर। हमारे रोग की अगर दवा है तो एक "जाह्नवीतीर्थ"—यदि वैद्य है तो एक—"नारायणो हरिः"।

फिर अब देर काहे क़ी, प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो। अब यह नरक भोगा नहीं जाता। भवसागर में हाथ मारते मारते थक गया हूँ। मेरा जीवन-दीपक स्नेह-शून्य है, गुणरहित है, प्रकाशहीन है। इसका शीघ्र नाश करो। पंचतत्त्व में लय करो।

फिर से, नये सिरे से, निर्माण हो ; फिर से, नये सिरे से, सृष्टि हो ; फिर से, नये सिरे से, जन्म हो, फिर से, नये सिरे से, शैशव हो ; फिर से, नये सिरे से यौवन हो ; फिर से, नये सिरे से, भोग हो ; विलास हो ; सुख हो ; आमोद हो ; विनोद हो ; कविता हो ; प्रेम हो ; पागलपन हो मान में अपमान, और अपमान में मान हो। फिर से, नये सिरे से, यौवन की मतवाली अंगूरी-सुरा ऐसी छने—ऐसी छने कि लोक भूल जाय, पर-लोक भूल जाय, भय भूल जाय, शोक भूल जाय, वह भूल जाय, हम भूल जायँ, और तुम—ईश्वर—भूल जाओ ! तब जीवन का सुख मिले, तब पृथ्वी का स्वर्ग दिखाई पड़े।

फिर अब देर काहे की प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो ; जीवन की रस्सी काट डालो !

———

# जैनेन्द्रकुमार

(जन्म १९०५ ई०)

श्री जैनेन्द्रकुमार जैन का जन्म अलीगढ़ में हुआ था। आप काशी विश्वविद्यालय में एफ० ए० में पढ़ रहे थे कि असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ और आपने कालेज छोड़ जेल की राह ली। जेल में ही आपको कहानी लिखने की प्रेरणा मिली और तब से आप बराबर उपन्यास कहानी लिखते आ रहे हैं। आपके कई कहानी-संग्रह एवं उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। उपन्यास ये हैं—'परख', 'सुनीता', 'तपोभूमि', 'कल्याणी' और 'त्याग-पत्र'। इधर विचारात्मक निबन्ध लिखने की ओर आपका झुकाव अधिक है। वर्षों से आप दिल्ली में ही रहते हैं।

जैनेन्द्र जी हिन्दी के श्रेष्ठ कथाकारों में से हैं। हिन्दी उपन्यासों में मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति इन्हीं से आई। शैली की दृष्टि से भी ये एक नितान्त नवीन मार्ग के प्रवर्त्तक कहे जा सकते हैं। इनके लेखों में सर्वत्र एक आत्मीयता का वातावरण रहता है। प्रायः एक प्रश्न उठाकर फिर उसका समाधान किया जाता है। प्रश्न और उत्तर दोनों में ही रोचकता रहती है। उपन्यास-कहानियों अथवा निबन्धों में भी यथावसर मार्मिक व्यंग मिलता है जो कभी शब्द-प्रयोग और कभी वाक्य-ध्वनि पर निर्भर रहता है। कथन-शैली में आत्मीयता होते हुए भी बात कुछ ऐसे अन्दाज़ से कहते हैं कि उसमें विशेष मोहकता आ जाती है। बेहद बेतकल्लुफी ही उनकी शैली की विशेषता है। ऐसा लगता है मानो जैनेन्द्र जी बैठे हुए बतकही कर रहे हों। उनके शब्द-भाण्डार में तत्सम, तद्भव, देशज, उर्दू, अंग्रेजी सभी प्रकार के शब्द हैं किन्तु उनका प्रयोग ऐसा होता है कि उनमें एकलयता आ जाती है। इनके लेखों में शैली का आकर्षण ही प्रधान है।

'गांधी-नीति' नामक निवन्ध जैनेन्द्र के 'पूर्वोदय' नामक पुस्तक से लिया गया है। जैनेन्द्र स्वयं पक्के गांधीवादी हैं और उन्होंने गांधी-नीति के मूलाधार तत्त्वों को बड़ी ही सहानुभूति एवं तर्कपूर्ण ढंग से समझाने का प्रयत्न किया है। गांधीवाद की यह अपने ढंग की अनोखी व्याख्या है। शैली में बड़ी वैयक्तिकता है। अंग्रेजी के शब्दों का यथा अवसर भरपूर प्रयोग किया गया है।

---

# गांधी नीति

कहा गया है कि गांधीवाद पर कुछ लिखकर दूँ। मेरे लेखे गांधीवाद शब्द मिथ्या है। जहाँ वाद शब्द है वहाँ विवाद अवश्य है। वाद का लक्षण है कि वह प्रतिवाद को विवाद द्वारा खंडित करे और इस तरह अपने को प्रचलित करे। गांधी के जीवन में विवाद एकदम नहीं है। इसलिए गांधी को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नहीं होगा।

गांधी ने कोई सूत्रबद्ध मन्तव्य प्रचारित नहीं किया है। वैसा रेखाबद्ध मन्तव्य वाद होता है। गांधी अपने जीवन को सत्य के प्रयोग के रूप में देखते हैं। सत्य के साक्षात्कार की उसमें चेष्टा है। सत्य पा नहीं लिया गया है, उसके दर्शन का निरन्तर प्रयास है। उनका जीवन परीक्षण है। परीक्षा-फल आँकने का काम इतिहास का होगा, जब कि उनका जीवन जिया जा चुका होगा। उससे पहले उस जीवन-फल को तौलने के लिए बाट कहाँ है, रखने के लिए अन्तर (Perspective) कहाँ है?

जो सिद्धान्त गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और परिपुष्ट हो रहा है वह केवल बौद्धिक नहीं है। इसलिए वह केवल बुद्धिग्राह्य भी नहीं है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। इस लिहाज से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक, यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, अथवा अन्य क्षेत्रों में वह एक सा व्यापक है। वह चिन्मय है, वादगत वह नहीं है।

गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतर संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर क़ायम है। जो चिन्मय तत्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खण्ड नहीं है। वह सहज और स्वभाव-रूप है। उसमें प्रतिभा की आभा नहीं है, क्योंकि प्रतिभा द्वन्द्वज होती है। उस निर्गुण अद्वैत तत्व के

प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की धूप-जैसा धौला और साफ हो आएगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुंजी उसकी एक और एक ही है। वहाँ दो पन नहीं है। वहाँ सब दो एक हैं।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" समूचे और बहुतेरे मत-वादों के बीच में रहकर, सबको मानकर किन्तु किसी में न फंसकर, गांधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से गांधी की आस्था का आधार अविश्वासी को एकदम अगम है। पर वह आस्था अटूट, अजेय और अचूक इसी कारण है। देखा जाय तो वह अति सुगम भी इसी कारण है।

कहाँ से गांधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका बिना अनुमान किए उस कर्म का अंगीकार कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानों वह कर्म सहज उपलब्ध हो जायगा। गांधी की प्रेरणा शत-प्रति-शत आस्तिकता में से आती है। वह सर्वथा अपने को ईश्वर के हाथ में छोड़े हुए हैं। ऐसा करके अनायास वह भाग्य-पुरुष (Man of Destiny) हो गए हैं। जो वह चाहते हैं होता है—क्योंकि जो होनेवाला है उसके अति-रिक्त चाह उनमें नहीं है।

बौद्धिक रूप से ग्रहण की जानेवाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति इस आस्तिकता के आधार को तोड़कर समझने की कोशिश करने से समझ में नहीं आ सकती। इस भाँति वह एकदम विरोधाभास से भरी, वक्रताओं से वक्र और प्रपंचों से क्लिष्ट मालूम होगी। जैसे मानों उसमें कोई रीढ़ ही नहीं है। वह नीति मानों अवसरवादी (Opportunist) की नीति है। मानों वह घाघपन है। पर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह घाघपन, यह कार्यकौशल, अना-यास ही यदि उन्हें सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने अपने जीवन

के समूचे जोर से एक और अकेले लक्ष्य को पकड़ लिया है। और वह लक्ष्य क्योंकि एकदम निर्गुण, निराकार, अज्ञेय और अनन्त है; इससे वह किसी को बाँध नहीं सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वांगीण है। इसलिए सहज भाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्ज्वल और ग्रंथिहीन हो गया है। उसमें द्विविधा ही नहीं है। दुनिया में चलना भी मानों उनके लिए अध्यात्म का ध्यान है। नर की सेवा नारायण की पूजा है। कर्म सुकौशल ही योग है। ईश्वर और संसार में विरोध; यहाँ तक कि द्वित्व ही नहीं रह गया है। सृष्टि स्रष्टामय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यों कहिए कि सृष्टि में स्रष्टा, नर में नारायण, पदार्थमात्र में सत्य देखने की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति, उनकी समाजनीति ने वह रुख लिया जो कि लिया। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल कर्म में सत्य ज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमासान में प्रेम और शांतिके आनन्द को अक्षुण्ण रखना बताया गया।

सत्य ही है। भेदमात्र उसमें लय है। इस अनुभूति की लीनता ही सब का परम इष्ट है। परन्तु हमारा अज्ञान हमारी बाधा है। अज्ञान, यानी अहंकार। जिसमें हम हैं उसमें ही, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपने को अनुभव करते जाना ही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्तव्य, यही धर्म है।

विश्वास को यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है तब उसके कर्म में आदर्श सामाजिकता अपने आप समा जाती है। समूचा राजनैतिक कर्म भी इसके भीतर आ जाता है। देशसेवा आती है, विदेशी सरकार से लड़ना आ जाता है, स्वराज्य कायम करना और शासन-विधान को यथावश्यक रूप में तोड़ना-बदलना भी आ जाता है।

पर वह कैसे ?

सत्य की आस्था प्राप्त कर उस ओर चलने का प्रयत्न करते ही अभ्यासी को दूसरा तत्त्व प्राप्त होता है—अहिंसा। उसे सत्य का ही साक्षात्

पहलू कहिए। जैसे रात को चाँद का बस, उजला भाग दीखता है, शेष पिछला भाग उसका नहीं दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिये कि जो भाग सत्य का हमारे सम्मुख है वह अहिंसा है। वह भाग अगर उजला है तो किसी अपर ज्योति से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशोद्गम (सत्य) स्वयं हमारे लिए कुछ अज्ञात और प्रार्थनीय ही है। और जो उसका पहलू आचरणीय रूप में सम्मुख है वही अहिंसा है।

सत्य में तो सब हैं एक। लेकिन यहाँ इस संसार में तो मुझ जैसे कोटि कोटि आदमी दीखते हैं। उनके अनेक नाम हैं, अनेक वर्ग हैं। ईश्वर में आस्था रखूँ तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूँ? उन अनेकों में भी कोई मुझे अपना मानता है, कोई पराया गिनता है। कोई सगा है, दूसरा द्वेषी है। और इस दुनिया के पदार्थों में भी कुछ मेरे लिए जहर है, कुछ अन्य औषध है। इस विषमता से भरे संसार के प्रति ऐक्य विश्वास को लेकर मैं कैसे वर्तन करूँ, यह प्रश्न होता है।

आस्तिक अगर ऐसे विकट अवसर पर संशय से घिरकर आस्तिकता को छोड़ नहीं बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है। वह उत्तर है, अहिंसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मैं उसका, किसी का, नाश नहीं चाह सकता, किसी को बुराई नहीं चाह सकता, किसी को झूठा नहीं कह सकता, घमण्ड नहीं कर सकता, आदि कर्तव्य एकाएक ही आस्तिक के ऊपर आ जाते हैं।

लेकिन कर्तव्य कुछ आ जाय—तर्क सुझायगा कि—सचाई भी तो हम देखें। आँख सब ओर से तो मूँदी नहीं जा सकती। वह आँख दिखाती है कि जीव जीव को खाता है। मैं चलता हूँ, कौन जानता है कि इसमें भी बहुतों को असुविधा नहीं होती, बहुतों का नाश नहीं होता? आहार बिना क्या मैं जी सकता हूँ? लेकिन आहार क्या हिंसा नहीं है? जीवन का एक भी व्यापार हिंसा के बिना सम्भव नहीं बनता दीखता। जीवन युद्ध दिखलाई देता है। वहाँ शान्ति नहीं है। पग-पग पर दुविधा है और विग्रह है।

तब कहे, कौन क्या कहता है। ऐसे स्थल पर आकर ईश-निष्ठा टूट-कर ही रहेगी। ऐसे समय पागल ही ईश्वर की बात कर सकता है। जिसकी आँखें खुली हैं और कुछ देख सकती हैं वह सामने के प्रत्यक्ष जीवन में से, और इतिहास द्वारा परोक्ष जीवन में से, साफ-साफ सार तत्त्व को पहचान लेगा कि युद्ध ही मार्ग है। उसमें बल की ही विजय है, और बल जिस पद्धति से विजयी होता है उसका नाम है हिंसा। जो मजबूत है वह निर्बल को दबाता आया है, और इसी तरह विकास घटित होता आया है।

मेरे ख्याल में श्रद्धा के अभाव में तर्क की और बुद्धि की सचाई और चुनौती यही है।

किन्तु समस्या भी यही है। रोग भी यही है। आज जिस उलझन का सुलझाना है और जिस उलझन को सुलझाने का सवाल हर देश में, हर काल में, कर्मक्षेत्र में प्रवेश करनेवाले योद्धा के सामने आयगा, वह यही है कि इस कुरुक्षेत्र में मैं क्या करूँ? किसको छोड़ूँ, किसको लूँ? बुराई को कैसे पछाड़ूँ? बुराई क्या है? क्या बुराई अमुक अथवा अमुक नामधारी है? या बुराई वह है जो कि दुःख देती है?

इतिहास के आदि से दो नीति और दो पद्धति चलती चली आई हैं। एक वह जो अपने में नहीं, बुराई को कहीं बाहर देखकर ललकार के साथ उनके नाश के लिए चल उठती है। दूसरी, जो स्वयं अपने को भी देखती है और बुरे को नहीं। उसमें विकार के कारण आ गई हुई बुराई को दूर करना चाहती और विकार का निदान अपने में वह खोजती है। आस्तिक की पद्धति यह दूसरी ही हो सकती है। आस्तिकता के बिना बहुत मुश्किल है कि पहली नीति को मानने और उसके वश में हो जाने से व्यक्ति बच सके।

गांधी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग है। वह नीति-संघर्ष की परिभाषा में बात नहीं सोचती। संघर्ष की भाषा उसके लिए नितान्त असंगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्मयुद्ध हो। जो धर्मभाव से नहीं किया जाता वह युद्ध संकट काटता नहीं, संकट

बढ़ाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुँह मोड़ना नहीं है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नहीं तो शत्रु चाहे मिट भी जाये, पर वह अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड़ जाता है और इस तरह शत्रुओं की संख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अतः युद्ध शत्रु से नहीं, शत्रुता से होगा। बुराई से लड़ना कब रुक सकता है? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है? इससे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध में आँख झपकने का अवकाश नहीं। किन्तु पल-भर के लिए भी वह युद्ध वासनामूलक नहीं हो सकता। वह जीवन और मौत का, प्रकाश—अन्धकार और धर्म—अधर्म का युद्ध है। यह खाँड़े की धार पर चलना है।

इस प्रकार गांधी-नीति की दो आधारशिला प्राप्त हुई—

(१) ध्येय-सत्य।

क्योंकि ध्येय कुछ और नहीं हो सकता। जिसमें द्विधा है, दुई है, जिससे कोई अलग भी है, वह ध्येय कैसा? जो एक है, वह सम्पूर्ण भी है। वह स्वयंभू है, आदि-अन्त है, अनादि-अनन्त है। प्रगाढ़ आस्था से ग्रहण करो तो वही ईश्वर है।

(२) धर्म-अहिंसा।

क्योंकि उस ध्येय को मानने से जो व्यवहार-धर्म प्राप्त हो आता है उसी का अंगीकरण है—अहिंसा।

अहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रेरक (Positive) तत्त्व को स्वीकार की परिभाषा में कहना नहीं हो पाता, नकार की ही परिभाषा हाथ रह जाती है। उसको कोई निश्चित संज्ञा ठीक खोल नहीं पाती। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है, वह तो उसका रूप-भर है। उस अहिंसा का प्राण प्रेम है। प्रेम से और जीवन्त ( पाज़िटिव ) शक्ति क्या है? फिर भी आत्मगत और व्यक्तिगत प्रेम में अन्तर बाँधना कठिन हो जाता, और 'प्रेम' शब्द में निषेध की शक्ति भी कम रहती, इसी से प्रेम न कहकर

कहा गया 'अहिंसा'। वह अहिंसा निष्क्रिय (Passive) पदार्थ नहीं है, वह तेजस्वी और सक्रिय तत्त्व है।

अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा ग्रहण की जानेवाली शक्ति हुई। कहिए कि चित्त अहिंसा में भीग रहना चाहिए। और सत्य ही है ध्येय। कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनों—सत्य-अहिंसा के सहारे साधारण भाषा में लोककर्म के सम्बन्ध में सीधा कुछ प्रकाश नहीं प्राप्त होता। सत्य को मन में धार लिया, अहिंसा से भी चित्त को भिगो लिया, लेकिन अब करना क्या होगा? तो उसके लिए है :—

(३) कर्म—सत्याग्रह।

'सत्याग्रह' मानों कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नहीं है। उस उपलब्धि की ओर बढ़ते रहना है। इसी में गति (उन्नति, प्रगति, विकास आदि) की आवश्यकता समा जाती है। इसी में कर्तव्य (Doing) आ जाता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जब पहली स्थापना में सत्य को अखण्ड और अविभाज्य कहा गया तब वहाँ अवकाश कहाँ रहा कि आग्रह हो? जहाँ आग्रह है वहाँ, इसलिए, असत्य है।

यह शंका अत्यन्त संगत है। और इसी का निराकरण करने के लिए शर्त लगाई गई—सविनय। जहाँ विनय-भाव नहीं है, वहाँ सत्याग्रह हो ही नहीं सकता। वहाँ उस 'घोष' का व्यवहार है तो जान अथवा अजान में छल है। व्यक्ति सदा ही अपूर्ण है। जब तक वह है, तब तक समष्टि के साथ उसका कुछ भेद भी है। फिर भी जो समष्टिगत सत्य की झाँकी व्यक्ति के अन्तःकरण में प्राप्त होकर जाग उठी है, व्यक्ति की समूची निष्ठा उसी के प्रति समर्पित हो जानी चाहिए। उस डटी रहनेवाली निष्ठा को कहा गया आग्रह; किन्तु उस आग्रह में सत्याग्रही अविनयी नहीं हो सकता, और उस आग्रह का कष्ट और दण्ड अपने ऊपर ही लेता है। उसकी (नैतिक से अतिरिक्त) चोट दूसरे तक नहीं पहुँचने देता। यानी सत्याग्रह है तो सविनय होगा। कहीं गहरे तक में भी वहाँ अविनय भाव नहीं

हो सकता। कानून ( सरकारी और लौकिक ) तक की अवज्ञा हो सकेगी, उसका भंग किया जा सकेगा, लेकिन तभी जब कि सत्य की निष्ठा के कारण हो और वह अवज्ञा सर्वथा विनम्र और भद्र हो।

गांधी-नीति के इस प्रकार ये तीन मूल सिद्धान्त हुए। यों तीनों एक ही हैं। फिर भी कह सकते हैं कि सत्य व्यक्तिगत है, अहिंसा सामाजिक और सत्याग्रह राजनैतिक हो जाता है।

इसके आगे संगठित और सामुदायिक रूप से कर्म की व्यवस्था और आन्दोलन का प्रोग्राम पाने के बारे में कठिनाई नहीं होगी। व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियों को लेकर पैदा होता है। इन परिस्थितियों में गर्भित आदि-दिन से ही कुछ कर्तव्य उसे मिलता है। वह कर्तव्य कितना ही स्वल्प और सीमित प्रतीत होता हो, लेकिन वही व्यक्ति की सिद्धि और वही उसका स्वधर्म है। उसकी पूर्ति में से मानों वह सब कुछ करने का द्वार पा लेता है। 'स्वधर्मो निधन श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

इस भाँति वर्तन करने से विकल्प-जाल कटता है। कल्पना को लगाम मिल जाती है। बुद्धि बहकती नहीं और तरह-तरह के स्वर्ग-चित्र (Utopias) तात्कालिक कर्म से बहकाकर व्यक्ति को दूर नहीं खींच ले जाते। क्षणोत्साह की (Romantic) वृत्ति इस तरह मन्द होती है और परिणाम में स्वार्थ-जन्य स्पर्धा और आपाधापी भी कम होती है। सबको दबा देने और सबसे आगे बढ़े हुए दीखने की ओर मन उतना नहीं लपकता और परिणामतः व्यक्ति विक्षोभ और विषमता पैदा करने में नहीं लग जाता। महत्वाकांक्षा (Ambition) की धार तब काटती नहीं। व्यक्ति कर्मशाली तो बनता है, फिर भी भागाभागी से बच जाता है। वह मानों अपना स्वामी होता है। ऐसा नहीं जान पड़ता जैसे पीछे किसी चाबुक की मार पर बेबस भाव से अन्धी गति में भाग रहा हो।

मुझे तो मालूम होता है कि हमारी सामाजिक और राजनैतिक उलझनों की जड़ में मुख्यता से यही आपाधापी और बढ़ा-बढ़ी की प्रवृत्ति है।

ऊपर यह आन्तरिक ( Subjective ) दृष्टिकोण की बात कही गई। यानी भावना-शुद्धि की बात। मुख्य भी वही है। पर प्रश्न होगा कि घटना की दुनिया (objective conditions) के साथ गांधी-नीति क्या करना चाहती है ? उसमें क्या सुधार हो, और कैसे हो ? समाज का संगठन क्या हो ? आवश्यकता और आविष्कार का, उद्यम-अगम का, विज्ञान-कला का, शासन का और न्याय का परस्पर सम्पर्क और विभाजन क्या हो ? श्रम और पूँजी कैसे निबटे ? आदि-आदि।

तो प्रश्नकर्त्ता को पहले तो यह कहना आवश्यक है कि सारे प्रश्न आज अभी हल हो जायेंगे तो काल भी आज ही समाप्त हो जायगा। इससे प्रश्नों को लेकर एक घटाटोप से अपने को घेर रहने और हतबुद्ध होने की आवश्यकता नहीं है ? फिर उनका हल काग़ज़ पर और बुद्धि में ही हो जानेवाला नहीं है। सब सवालों का हल बतानेवाली मोटी किताब मुझे उन सवालों से छुटकारा नहीं दे देगी। इसलिए विचारधाराओं (Ideologies) से काम नहीं चलेगा। जो प्रश्न है उनमें तो अपनी समूची कर्म की लगन लग जाना है। ऐसे ही वे शनैः शनैः निबटते जायँगे। नहीं तो किनारे पर बैठकर उनका समाधान मालूम कर लेने से कर्म की प्रेरणा चुक जायगी और अन्त में ज्ञात होगा कि वह मन द्वारा मान लिया गया समाधन—समाधान न था, फ़रेब (Illusion) था, और ज़रा बोझ पड़ते ही वह तो उड़ गया और हमें कोरा-का-कोरा वहीं-का-वहीं छोड़ गया। अर्थात् उन प्रश्नों पर बहसा-बहसी और लिखा-पढ़ी की अपने-आप में ज़रूरत नहीं है। उनमें जुट जाना पहली बात है।

गांधी-नीति है कि समस्या को बौद्धिक कहकर केवल बुद्धि-क्रीड़ा से उसे खोलने की आशा न करो। ऐसे वह उलझेगी ही। समस्या जीवन की है, इससे पूरे जीवन-बल के साथ उससे जूझो। इस कार्य-पद्धति पर बढ़ते ही पहला सिद्धान्त-सूत्र जो हाथ लगता है वह है स्वदेशी।

स्वदेशी द्वारा व्यक्तिगत कर्म में सामाजिक उपयोगिता पहली शर्त के तौर पर मांगी जाती है। उस शर्त का अर्थ है कि हमारे काम से लोगों

को लाभ पहुँचे। आदान-प्रदान बढ़े, सहानुभूति विकसे और पड़ोसीपन पनपे। पास-पड़ोसपन (Neighbourliness) स्वदेशी की जान है। मेरा देश वह है जहाँ मैं रहता हूँ। इस भाँति सब से पहले मेरा घर और मेरा गाँव मेरा देश है। उत्तरोत्तर वह बढ़कर ज़िला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व तक पहुँच सकता है। भूगोल के नकशे का देश अन्तिम देश नहीं है। मेरे घर को इन्कार कर नगर कुछ नहीं रहता, उसी तरह नगर-प्रान्त को इन्कार कर राष्ट्र कुछ नहीं रहता। उधर दूसरी ओर नागरिक हित से विरोधी बनकर पारिवारिक स्वार्थ तो निषिद्ध बनता ही है।

स्वदेशी में यही भाव है। उसमें भाव है कि मैं पड़ोसी से टूटूँ नहीं और अधिकाधिक हममें हितैम्य बढ़े। दूसरा उसमें भाव है, सर्वोदय। एक जगह जाकर शरीर भी आत्मा के लिए विदेशी हो सकता है।

समाजवादी अथवा अन्य वस्तुवादी समाजनीतियाँ इसी जगह भूल कर जाती हैं। वे समाज को सम्हालने में उसी की इकाई को भूल जाती हैं। उनमें योजनाओं की विशदता रहती है, पर मूल में पास-पड़ोसपन के तत्त्व पर ज़ोर नहीं रहता। सामाजिकता वही सच्ची है जो पड़ोसी-प्रेम से आरम्भ होती है। इस तत्त्व को ध्यान में रखें तो बड़े पैमाने पर चलने-वाला यांत्रिक उद्योगवाद गिर जायगा। जहाँ बड़े कल-कारखाने हुए वहाँ जनपद दो भागों में बँटने लगता है। वे दोनों एक-दूसरे को ग़रज़ की भावना से पकड़ते और अविश्वास से देखते हैं। वे परस्पर सह्य बने रहने के लिए एक-दूसरे की आँख बचाते और मिथ्याचार करते हैं। पूंजी-मालिक मजूरों की झोंपड़ियों को यथाशक्ति अपने से दूर रखता है और अपनी कोठी पर चौकीदारों का दल बैठाता है कि खुद दुष्प्राप्य और सुरक्षित बना रहे। उधर मज़दूरों की आँखों में मालिक और मालिक का बँगला काँटा बने रहते हैं।

इस प्रकार के विकृत और मलिन मानवीय सम्बन्ध तभी असम्भव बन सकेंगे जब समाज की पुनर्रचना पास-पड़ोसपन के सिद्धान्त के आधार पर होगी। वह आधार स्वार्थ-शोध नहीं है। वस्तुवादी भौतिक

(Materialistic) नीतियाँ अन्ततः यहीं पहुँचती हैं कि व्यक्ति स्वार्थ के आधार पर चलता और चल सकता है।

स्वदेशी सिद्धान्त में से जो उद्योग का कार्यक्रम प्राप्त होता है उसमें मानव-सम्बन्धों के अस्वच्छ होने का खटका कम रहता है। उसमें उत्पादन केन्द्रित नहीं होगा, और खपत के लिए मध्यमवर्ग के बढ़ने और फूलने की गुञ्जाइश कम रहेगी। मानव-श्रम का मूल्य बढ़ेगा और अनुत्पादक चातुर्य का मूल्य घटेगा। महाजन, श्रमी और ग्राहक सब आसपास में मिले-जुले रहने के कारण समाज में वैषम्य विषम न होगा और शोषण-वृत्ति को गर्व-स्फीत होने का अवकाश कम प्राप्त होगा।

इस भाँति चरखा, ग्रामोद्योग, मादक-द्रव्य-निषेध और हरिजन (दलित) सेवा यह चतुर्विध कार्यक्रम हिन्दुस्तान की हालत को देखते हुए अन्तःशुद्धि और सामाजिक उपयोगिता दोनों अन्तों को मिलानेवाली गांधी नीति के स्वदेशी सिद्धान्त में से स्वयमेव प्राप्त होता है। यह शक्ति-संचय और ऐक्य-विस्तार का कार्यक्रम है। शक्ति और अवसर प्राप्त होने पर फिर सत्याग्रह ( Direct action ) द्वारा राजनैतिक विधान में परिवर्तन लाने और उसे लोक-कल्याण की ओर मोड़ने की बात विशेष दुस्साध्य नहीं रहती।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि स्वदेशी का आरम्भ राष्ट्र-भावना से नहीं होता। इसलिए उसका अन्त भी राष्ट्र-भावना पर नहीं है। राष्ट्र-भावना मध्य में आ जाय तो भले ही आ जाय। स्वदेशी को भौगोलिक राष्ट्र के अर्थ में लेने पर गड़बड़ी उपस्थित हो सकती है। इससे 'देशी पूँजीवाद' को बढ़ावा मिलता है और उस राह तो एक दिन State Capitalism में उतर आना होगा। उसके अर्थ होंगे, एकतंत्रीय शासन। यांत्रिक-उद्योगाश्रित समाजवाद का यही परिणाम आनेवाला है। यानी ऐसा समाजवाद एकतंत्रवाद ( फासिज्म आदि ) को बुलाकर ही रहेगा। गांधीनीति का स्वदेशी सिद्धान्त अतः हिन्दुस्तानी मिलों को नहीं, घरेलू चर्खों को चाहता है।

संक्षेप में गांधीनीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्म सर्वात्म का ही खण्ड है। इससे व्यक्ति का ध्येय सत्य से एकाकार होना है। उसकी इस यात्रा में ही समाज, राष्ट्र और विश्व के साथ सामञ्जस्य की बात आती है। वह जितना उत्तरोत्तर इन व्यापक सत्ताओं से एकात्म होता चला जाए उतना अपनी और संसार की बन्धन-मुक्ति में योगदान करता है। इस यात्रा के यात्री के जीवन-कर्म का राजनीति एक पहलू है। आवश्यक है, पर वह पहलू भर है। वह राजनीति कर्म में युद्ध-रूप हो, पर अपनी प्रकृति में उसे धर्ममयी और शान्ति-लक्षी होना चाहिए।

उस यात्रा का मार्ग तो अपरिचित ही है। फिर भी श्रद्धा यात्री का सहारा है। भीतरी श्रद्धा का धीमा-धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा। उस राही को तो एक कदम बस काफी है। वह चले, फिर अगला सूझा ही रखा है। मुख्य बात चलना है। राह चलने से ही खुलेगी। इस प्रकार इस यात्रा में प्रत्येक कदम ही एक साध्य है। यहाँ साधन स्वयं साध्य का अंग है। साधन साध्य से भिन्न कहाँ हो सकता है। इससे जिसे लम्बा चलना है, लम्बी बातों का उसके लिए अवसर नहीं है। वह तो चला चले, बस चला चले।

व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नहीं है। सब में धर्म की श्वास चाहिए। उसी दृष्टिकोण से, जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा, अन्यथा नहीं। सबके मन में एक ज्योति है। उसे जगाये रखना है। फिर उस लौ में जीवन को लगाए चले चलना है। चले चलना, चले चलना। जो होगा, ठीक होगा। राह का अन्त न नाप, राही, तुझे तो चलना है।

---

विश्वनाथ

# विश्वनाथप्रसाद मिश्र

(जन्म १६०६ ई०)

अवधी तथा व्रजभाषा साहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ पंडित विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र काशी की विभूति हैं। आप स्वर्गीय लाला भगवानदीन के परम प्रिय शिष्य रहे हैं और उन्हीं से आपको प्राचीन कविता के मूल्यांकन की मति मिली। आलोचना के क्षेत्र में आप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से वहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। आप काशी नागरीप्रचारिणी सभा के मत्री, उसी के खोज-विभाग के निरीक्षक तथा पत्रिका के सम्पादक भी रह चुके हैं। कई वर्षों से आप काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। उत्तर प्रदेशीय सरकार की हिन्दी परामर्श दात्री समिति के आप सदस्य भी हैं।

मिश्र जी ने अनेक प्राचीन कवियों जैसे भूषण, पद्माकर, घनानन्द आदि की कृतियों का सम्पादन करके तथा उनकी कविताओं के अर्थ को स्पष्ट करके हिन्दी जगत् का वड़ा उपकार किया है। आपका 'वाङ्मय-विमर्श' नामक ग्रन्थ एक साथ ही आलोचना के सिद्धान्त, साहित्य के इतिहास एवं भाषा-विज्ञान आदि का लेखा लेनेवाला है। 'विहारी' नामक पुस्तक में कविवर की विस्तृत आलोचना है। हिंदी का सामयिक साहित्य में साहित्यिक निवंधों का संग्रह है। इनके अतिरिक्त मिश्र जी अनेक अन्य पुस्तकों के लेखक तथा संपादक हैं।

मिश्र जी की गद्य-शैली पर आचार्य शुक्ल की शैली का प्रभाव है। वह अधिकतर विचार-प्रधान है जिसमें वड़ी गुरुता एवं गम्भीरता है। संस्कृत की तत्सम पदावली की प्रचुरता ने भाषा को गाम्भीर्य देने में सहायता पहुँचाई है। उर्दू शब्दों का प्रयोग विरल ही है। वाक्य छोटे-छोटे किन्तु ठोस होते हैं। मिश्र जी का व्यंग मार्मिक होते हुए भी कहीं-कहीं तीखा हो जाता है। विषय प्रतिपादन में गम्भीर अध्ययन की छाप रहती है। अधिकतर मिश्र जी साहित्यिक समस्याओं को भारतीय

परम्परा के प्रकाश में देखने का प्रयास करते हैं। आलोचना में भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मान दण्डों को समुचित मूल्य देते हैं। भावना एवं भाषा-शैली दोनों में ही मर्यादा का आग्रह लक्षित होता है।

अपने सद्यः प्रकाशित ग्रन्थ 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में मिश्र जी ने वर्त्तमान हिन्दी साहित्य के युग विधायक लेखकों एवं साहित्य की कुछ प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है। प्रस्तुत पाठ उसी ग्रन्थ से लिया गया है। इसमें मिश्र जी ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि जहाँ तक प्रगतिवादी साहित्य जन-जीवन को साथ लेकर चला है वहाँ तक वह स्पृहणीय है। किन्तु भावानुभूति से प्रेरित साहित्य ही रस संचार की क्षमता रखता है। अतएव हमारे साहित्यकारों को बुद्धि-प्रसूत साहित्याभास की रचना छोड़कर जीवन के सुख-दुःख की व्याप्ति का राजपथ ग्रहण करना चाहिए।

---

# प्रगतिवाद

## ( मानवता तथा रसभूमि )

**मानवता**—संसार में जो मंगल है वह स्थिर है, ऐसा नहीं माना जा सकता। 'मंगल' निरंतर गतिमान् है। इसी गत्वर मंगल का अधिष्ठान सत्साहित्य के भीतर हुआ करता है, जिससे जगत् का वास्तविक कल्याण होता है। प्रगतिशील आन्दोलन चल पड़ने से नवयुवकों का ध्यान इस वास्तविकता की ओर आकृष्ट हुआ है, पर साथ ही यह कह देना आवश्यक है कि प्रगतिवाद ने संप्रति जो रूप धारण किया है, उसमें लोकानन्दविधायक 'शिव' का वह संपूर्ण रूप नहीं आ सका है जो हृदय के प्रकृत विस्तार का पूरा परिचय देता हो। प्रगतिवादी दृष्टि के संमुख समाज के शोषक और शोषित ही आते हैं। पर हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल शोषक और शोषित की दो श्रेणियाँ बना देने से ही साहित्य का काम नहीं चल सकता। ऐसा करने पर एक पक्ष छूटा जा रहा है। यह पक्ष है उस मानव या मानव-समूह का जो पीड़ित की पीड़ा का नाश किया करता है। इस पक्ष के छूट जाने से सच पूछिए तो साहित्य की लक्ष्य-पूर्ति में बहुत बड़ी कमी रह जाती है। साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है हृदय का परिष्कार। इस परिष्कृति का भली भाँति दिग्दर्शन कराना, बिना उस तीसरे पक्ष को सामने लाए असंभव सा है। इसकी ओर से आँख मूँद लेने से काम नहीं चल सकता। संभव है इस दृष्टि-विस्तार में कोई राजनीतिक मत बाधक होता हो। यदि ऐसा हो तो राजनीति को अपने ढंग से विचार करने का अवसर देकर और उसका पथ छोड़कर आप साहित्य-क्षेत्र की उस संपूर्ण जीवनव्यापिनी विस्तृत भूमि पर आइए जिसमें हृदय की नाना आवश्यकताओं का संचार होता है।

ऐसा करने पर ही लोक के बीच मंगल के अधिष्ठान का व्रत आप पूर्ण कर सकेंगे। प्रगतिवाद पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। स्थूल रूप से ये दृष्टियाँ ऐतिहासिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और साहित्यिक हो सकती हैं।

हमारे वर्तमान साहित्य का जो स्वरूप दिखाई दे रहा था, उसे दृष्टि-पथ में रखने से प्रगतिवादी आंदोलन का सूत्रपात ऐतिहासिक आवश्यकता प्रतीत होता है। इधर के हिन्दी-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण बात छूट गई थी। वह इस चेतना के जागरण से विरत हो रहा था कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति क्या कर्त्तव्य होना चाहिए। इसी कमी की पूर्ति के लिए प्रगतिवाद की अवतारणा हुई। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हमारे साहित्य की यह नवीन धारा मानव के प्रति मानव के कर्त्तव्य की अनुभूति पाठक के हृदय में जगाकर उसे लोकमंगल की साधना में प्रवृत्त करे। हिंदी का पुराना इतिहास देखिए तो 'वीरगाथाकाल' का साहित्य उत्साह और वीरत्व की भावना का संचार कर कर्मठ तो बनाना चाहता है, पर सामाजिक कर्त्तव्य शीलता की वह पूर्ण भावना उसमें नहीं दिखाई देती जो लोक के सभी व्यक्तियों का ध्यान रखते हुए चलती है। इस प्रकार की सर्वकल्याणकारी भावना के विस्तार का अवकाश भक्तिकाल में मिला, पर उसकी पूर्ण अभि-व्यक्ति उस समय भी नहीं हो सकी। कारण यह है कि उस समय के अधि-कांश कवि सौंदर्य का गत्यात्मक स्वरूप लेकर नहीं चले। भगवान् की अनन्तसौंदर्यमयी निरन्तर प्रफुल्ल मूर्ति ही उनके समक्ष अधिक रही जो लोक-रंजन मात्र कर सकती थी। परमात्मा की सुषमा में ही वे अधिक मग्न हुए। हाँ, तुलसी एक ऐसे महाकवि उस काल में अवश्य आए जिन्होंने भगवान् की कला का प्रकाश अनेक कठिनाइयों और विपत्तियों के अंधकार के बीच किया। उनके राम दैत्यों का नाश कर लोक की अनेक विघ्न-बाधाओं को मिटाते हुए उसके बीच मंगल की प्रतिष्ठा करते दिखाई देते हैं। रूप-सौंदर्य और कर्म-सौंदर्य का ऐसा अद्भुत समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसी के राम राजा की—पिता की—आज्ञा शिरोधार्य कर वनवास भी

स्वीकार करनेवाले हैं। ग्रामवासियों के बीच पहुँचकर मानव से मानव की प्रकृत एकता का आभास भी देनेवाले हैं। वन की जंगली जातियों तक से मैत्रीभाव रखनेवाले हैं—वे दिव्य सौंदर्य के लोकरंजनकारी और अदम्य कर्मठता के लोकमंगलविधायक रूपों की समन्वित मूर्ति हैं। पर इस प्रकार की गत्यात्मक मंगलमूर्ति का अवस्थान भक्तिकाल की सामान्य विशेषता नहीं रही। आधुनिक काल के अंतर्गत भारतेंदु में इस प्रकारकी प्रवृत्ति का आभास पुनः मिला, जिसका थोड़ा परिष्कार द्विवेदी युग में हुआ। इसके अधिक विकास की अपेक्षा थी। पर द्विवेदी-युग के समाप्त होते ही 'छायावाद' की लहर आई जिसमें एक प्रकार से लोकमंगल की यह भावना डूब गई।

जगत् के विधाता के व्यक्त प्रसार की ओर से कवियों की दृष्टि जब हट गई तो सामाजिकता की भावना भला कहाँ रहती। व्यक्त प्रसार का तात्पर्य व्यक्तिरूप जीवन नहीं वरन् प्रकृति और समाज का वह समष्टि स्वरूप है जो हृदय के भीतर विराट् की अनुभूति जगाता है। धर्म इसी विराट स्वरूप का उपदेश करता हुआ ज्ञान का दान देता है, पर साहित्य, सर्वभूतस्थित इस विराट् की अनुभूति हृदय में उत्पन्न करता है। इसी से मानव के प्रति मानव के कर्तव्य की भावना मन में उदित होती है। मनुष्य के प्रति मनुष्य के कर्तव्य की भावना को उद्बुद्ध और विकसित करना ही प्रगतिवाद का लक्ष्य होना चाहिए।

लोकमंगल की प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि समाज के वैषम्य का नाश किया जाय। संप्रति समाज के भीतर जो प्रत्यक्ष वैषम्य है, वह आर्थिक है। इसे तो वे भी मानते हैं जो समाजवादी नहीं हैं। पर इसका कारण है उस साधन का निर्माण जिसने विनिमय के लिए वाहन या साधन का कार्य किया है। वह साधन है मुद्रा, व्यक्ति जिसके संचय से अमीर और अनुपलब्धि से गरीब बनता है। यदि यह साधन हटा दिया जाय तो यह वैषम्य बहुत कुछ ठीक हो सकता है। पर इस बीसवीं शती में इस विचार की व्यावहारिक परिणति कठिन है। प्रगतिवाद जिसका सहारा पाकर चलना चाहता है, उस रूप ने मुद्रा का व्यवहार तो जारी रखा है, पर उसकी

व्यवस्था दूसरे ढंग से की है। वितरण का कार्य राष्ट्र के हाथ में हो। अपने समाज की प्रकृति के अनुकूल हमारे यहाँ भी कोई इस प्रकार की अपनी आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने का उपक्रम हो तो वैषम्य कदाचित् थोड़ा बहुत दूर हो सके। इधर समाज के संघटन ने भी कुछ ऐसे साधन अवश्य एकत्र कर दिये हैं, जिनके कारण वैषम्य उत्पन्न हो गया है। उसे दूर करने के लिए हमें मनुष्य की उन उदात्त वृत्तियों को जागरित करना होगा जो मानव में पारस्परिक सहानुभूति का प्रसार करती हैं। हमें इसके लिए प्रेम का ही नहीं, करुणा का वह संदेश भी देना होगा, जिसका आदर्श वाल्मीकि और बुद्ध ने हमारे सामने रखा है।

हमारे नवयुवक साहित्यिकों को इस बात का विचार करना चाहिए कि हमारे राष्ट्र की चेतना कैसी हो। इस दृष्टि से हमें द्विवेदी-युग से आगे बढ़ना होगा। द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय चेतना एकदेशीय थी। हमारी राष्ट्रीय चेतना का आधार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' होना चाहिए। इस भाव की सच्ची व्याप्ति तभी होगी, जब हम अपने साथ ही दूसरों का भी बराबर ध्यान रखें। राष्ट्रीय चेतना कोई नई बात नहीं है। इसका ध्यान हमारे पूर्वज बराबर रखते आये हैं।

पर उनके संमुख भारत ही नहीं संपूर्ण वसुधा भी थी। जरा सोचिए तो सही कि उनका हृदय कितना विशाल रहा होगा, जिनकी वाणी से वेद और उपनिषद् के अमर संदेश निःसृत हुए थे। हमें अपने उन पूर्वजों का गर्व होना चाहिए जिनका हृदय विश्व-हृदय के साथ तादात्म्य का अनुभव किया करता था। इस समय उसी व्यापक राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की आवश्यकता है। कुछ प्रगतिवादियों को इस प्रवृत्ति की ओर झुकते देख प्रसन्नता होती है। पर इस भावना का निरन्तर 'विकास' होना चाहिये। किसी राजनीतिक भावना में बँधे रहना साहित्य का काम नहीं।

सन्तोष की बात है कि भयंकर नैराश्य और विलक्षण व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद की लहर अब लुप्त हो गयी है। शुद्ध व्यक्तिवादी साहित्य का निर्माण बहुत कुछ उठ चुका है, क्योंकि किसी उच्च कोटि की परम्परावाले तथा

शुद्ध सामाजिक भावना से पूर्ण वाङ्मय में वह बहुत दिनों तक टिक नहीं सकता। व्यक्तिवैचित्र्यवाद की यह आँधी विदेश से, पश्चिम से ही आई। इसका बड़ा अनिष्टकारी प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा, जिससे उसकी प्रकृत गति कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो गई। पर ऐसा मत समझ बैठिए कि हमारे साहित्य पर विदेशी प्रभाव कभी पड़ा ही नहीं। रीतिबद्ध कवियों की बात तो छोड़िये, हिन्दी के समर्थ कवि घनआनन्द आदि तक इससे नहीं छूट सके हैं। पर जरा यह तो देखिए कि कैसी सफाई के साथ विदेशी प्रवृत्ति को अपने में पचाकर उसे कैसी स्वाभाविक पद्धति पर उन्होंने अपनाया है। विदेशी प्रवृत्तियों का ग्रहण अपनी प्रकृति के बिलकुल अनुरूप अपने ढंग से ही होना चाहिए इसे बिहारी, घनआनन्द आदि हमें सिखा गये हैं। अपने नवीन कवियों से यह बात और भी जोर देकर कहनी है।

अन्त में एक बात और कहनी है। हमें केवल बुद्धिवादी साहित्य नहीं, वरन् हृदयवादी साहित्य चाहिये। क्योंकि यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि साहित्य का कार्य अनुभव कराना है, ज्ञान कराना दूसरे शास्त्रों का कार्य है। साहित्य हृदय के परिष्कार के द्वारा ही समाज का कल्याण करता है। अतः हमें ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता है जो मार्मिक भावों का संचार करे। इसके लिए आवश्यक है कि साहित्यकार जनता के वास्तविक जीवन के भीतर पैठकर उसका परिचय प्राप्त करे, जनता के समीप पहुँचे, गाँवों में जाय, किसानों के जीवन का निरीक्षण करे, श्रमिकों के बीच जाय और उनके हर्ष-विषाद, सुख-दुःख को निकट से देखे और समझे तभी वह जन-मानस को अपनी रसीली रचना से तृप्त कर सकेगा, जिससे देश और जाति का उद्धार होगा। केवल फैशनके लिए प्रगतिवाद को अपनाना भूल होगी। साहित्य की रचना का उद्देश्य गम्भीर है। उसका प्रयोग भी गम्भीरता-पूर्वक होना चाहिये। समाज के वास्तविक कल्याण और नवीन परिष्कृत हृदय की स्थापना के लिए प्रगतिशील आन्दोलन की आवश्यकता है, यह विश्वास कर कार्य करने से ही लोक-मंगल के लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है।

**रसभूमि**—रसभूमि लौकिक भूमि है, अलौकिक भूमि नहीं। रस-भूमि को अलौकिक भूमि मानने से बहुत अधिक वाग्विसर्ग के अनन्तर उसकी अलौकिकता सिद्ध होती है। लोकभूमि पर स्थित काव्य पुरुष के पौरुष या कविता-रमणी की रमणीयता में अलौकिकता के दर्शन करना भी हृदय का उद्गार है, बुद्धि का निश्चयात्मक व्यापार नहीं। इस अलौकिकता से काव्य के प्रकृत विश्लेषण का मार्गावरोध तो होता ही है, स्वयं कविता भी स्वर्ग की अप्सरा बनने लगती है, कभी कभी विदेशी परी तक। अतः वाङ्मय के शास्त्र और काव्य दोनों पक्षों के हितार्थ रस को लोकभूमि मानना ही उचित है। स्वयं उन लोगों ने भी काव्यव्यापार को लौकिक मानदण्ड से ही नापा है जो उसकी अलौकिकता की घोषणा करते आ रहे हैं। भारत के शास्त्रीय आलोचकों की बात कही जा रही है, पश्चिम के उन व्यक्तिवादी कला-प्रेमियों की नहीं जो काव्य की समीक्षा के नाम पर भी वस्तुतः काव्य करने के अभिलाषी हैं।

प्रगतिशील कर्ताओं का दावा है कि हम जो काव्य प्रस्तुत कर रहे हैं वह लोकभूमि पर प्रतिष्ठित है, हम अलौकिक विश्व में विहार करनेवाले, जीवन से पलायित कवि नहीं हैं। बहुत ठीक। पर जीवन की विस्तृत भूमि में से जो भूमिखंड आपने अपनी क्रीड़ा के लिए चुना है क्या वह रसभूमि की व्याप्ति का भी प्रमाण देनेवाला है? यदि उसमें व्याप्ति का प्रमाण प्रस्तुत करनेवाली रसभूमि नहीं है तो भारतीय दृष्टि से उसकी सीमा बहुत छोटी माननी पड़ेगी। हृदय तो इसे मानने के लिए संनद्ध नहीं होता कि जो पश्चिम में हो वही पूर्व में भी हो, जो उत्तर में हो वही दक्षिण में भी हो। जो रूस में हो वही भारत में भी हो। अनिवायता सिद्ध किए बिना केवल यह घोषणा करना ठीक नहीं कि हमें जीवन का आदर्श बदलना है, 'साहित्य' उसमें सहायता दे, हमें पुरानी रूढ़ियाँ तोड़नी हैं, साहित्य 'हथौड़ा बने, कुल्हाड़ी बने, कुल्हाड़ी चलाये, कविबुद्धि फावड़ा लेकर पुराना खेत खोदे, भावुक सहृदय लाल झंडा लिए साम्यवाद या समाजवाद का प्रचार करता फिरे।' कम से कम इसे काव्य या साहित्य की अनिवार्य या पूर्ण भूमि कहना

बुद्धिगम्य तो है ही नहीं, हृदयसुलभ भी नहीं है। इसका प्रमाण चाहते हों तो वह इस बात की छानबीन से मिल जायगा कि रसभूमि का समावेश ऐसी रचनाओं में कितना हो सका है। यदि प्रगतिवादी रचना सचमुच लोकभूमि पर ही खड़ी होना चाहती है तो उसे आँख मूँदकर किसी का अनुगमन करने के बदले आँख खोलकर अपना मार्ग निर्दिष्ट करना होगा।

भारतीय रसभूमि किस प्रकार लोकभूमि होने का प्रमाण उपस्थित करती है इसके लिए देखना होगा कि उसके अन्तर्गत स्वीकृत भावभूमि का रंगस्थल, उसमें गृहीत हृदय का वह निर्विशेपत्व जो जाति, वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय आदि के भेदों का त्याग किये हुए अथवा इन विशेषों से तटस्थ होकर अभेद की पताका फहरा रहा है। प्रेम, हास, आश्चर्य, उत्साह, शोक, क्रोध, भय, घृणा, शांति, भक्ति, श्रद्धा, वात्सल्य आदि भावों से भेद का वैषम्य नहीं, अभेद का साम्य है। इस साम्य के बिना साहित्य में साम्यवाद कैसा। इस सामाजिकता के बिना 'सामाजिकों' के हेतु समाजवाद कैसा। मनोवेग के इस निदर्शन के बिना काव्य में प्रगति कैसी। 'पूँजीपति तेरा नाश हो, ऐ कंकालों का रक्त चूसनेवाले, तेरे ये प्रासाद नष्ट हो जायँ। अथवा ओ मजदूर, तू उबल पड़, तू रुद्र का तांडव कर, तेरी गर्जना से सातवें खण्ड में बैठे अर्थपिशाचों की स्थूल काया भूमि पर लुंठित होने लगेगी, उनका ब्रह्मांड चकनाचूर हो जायगा' आदि मुख में शाप है और हृदय में रोष। केवल दुर्वासा बनने से उनके जीवन में क्या प्रगति आ सकती है जो श्रम की गति के विचार से अधिक चलने के अभ्यासी हैं। यही क्यों जो जीवन आप सामने ला रहे हैं वह क्या केवल करुणा का पात्र है, क्या वह उत्साह का भंडार नहीं बन सकता, प्रेम की वीथिका में नहीं टहल सकता, वात्सल्य की छाया में विश्राम नहीं कर सकता। पर इधर इन नये कर्ताओं की दृष्टि नहीं जा रही है। हाँ, पुराने कवियों की मंडली से इसमें निर्वाचित प्रशस्त हृदय श्री सुमित्रानन्दन की कविदृष्टि अवश्य अपनी व्याप्ति का आभास देती है जो इनकी करुणा का ही नहीं इनके जीवन के हर्ष, सारल्य, दृढ़ता, विनोद, वात्सल्य आदि के कई पक्ष बड़ी ही

मार्मिक शैली से सामने लाती है। और कहीं से नहीं तो प्रगतिवादियों को उन्हीं की गतिविधि से कुछ समझने बूझने और अपने पथ के निर्दिष्ट करने में कुछ सहायता लेनी चाहिए।

सोचिए तो सही कि यदि दलित-वर्ग का जीवन इतना खोखला हो गया है जितना आप कहकर कान में नहीं, छाती में मुक्के मारकर, कबुलवाना चाहते हैं तो वह चल कैसे रहा है। वास्तविकता यह है कि उनका हृदय नहीं मरा है, वे जीते हैं, हर्ष और उल्लास लिये हुए जीते हैं। धनिकों की मार, समाज की उपेक्षा की चोट उन्हें लगती है अवश्य, पर उन्होंने अपनी मनुष्यता नहीं खो दी है। उनके स्त्री-बच्चे हैं, वे उन्हें चाहते हैं, दुलराते हैं। वे समाज में जहाँ वास्तविक महत्ता के दर्शन करते हैं हृदय के टोंकते ही नतमस्तक होते हैं। उनका जीवन ऐसा विकृत या पतित नहीं है जिसकी सूचना दे देकर कवि उन्हें पागल बना देने को बावले होते रहते हैं। यदि उनके जीवन से साहित्य को संलग्न करने की दीक्षा रूस ने दी है तो साहित्य में उनका सारा जीवन तो लाइए, अधूरे से कब तक काम चलेगा। उनके जीवन के उल्लास की भी वृद्धि कीजिए, जिससे वे समाज में मनुष्यता की उत्तरोत्तर परिष्कृत भूमि पर चलने के अभ्यासी बनें। इसके लिए रसभूमि की व्यापक वीथिकाएँ पड़ी हैं, बड़े आनन्द से आप स्वयं इनमें चल सकते हैं, उन्हें चला सकते हैं और साथ ही उनके इन सब चित्रों के धक्के से क्रूर हृदय का बन्द कपाट खोल सकते हैं, उस क्रूर या कलुषित हृदय का कपाट जो उनके लिए कभी खुला ही नहीं, जो खुलकर बन्द हुआ उसके खुलने में तो देर ही न लगेगी। किवाड़ खोलने के स्थान पर उसमें आग लगा देना, क्रांति करने पर तुलना 'साहित्य' का काम नहीं। साहित्य हृदय के किवाड़ बाहर से नहीं तोड़ता, भीतर से आपसे आप खुलवाता है; वह भीतर आग लगाता है, वहाँ क्रांति करता है। इसमें जहाँ बुद्धिप्रसूत कड़वे राजनियम विफल हो जाते हैं वहीं साहित्य की हृदयसंपृक्त मधुरिमा आपसे आप खींच लेती है। वह हृदयरोग पर रामबाण का काम करती है—अचूक। पर वह हृदय से संपृक्त हो तभी, उसमें मन की

मिश्री घुली हो तभी, बुद्धि का दूषीविष भाव को जगा या जिला नहीं सकता, उसे मार भले डाले। 'रस' की प्रकृत मनोगति ही अमृत है, भरुहाई हुई कृत्रिम प्रगति विष की घूँटी है।

अन्त में यह भी कह दूँ कि रूस की अनुकृति पर सोच-समझकर अपने काव्य की 'गति' को 'प्रगति' में परिणत करना चाहिए। रूस के साहित्य की उतनी पुरानी परंपरा नहीं है, उसके लोकजीवन की उतनी पुरानी संस्कृति नहीं है, उसके समाज में वह विविधता नहीं रही है। समाज की जिस समता का अनुराग वह दिखला रहा है वह प्राकृतिक और सामाजिक नियमों के विपरीत है। काव्य के आधुनिक युग की जिस रंगभूमि में प्रगतिवादी कविता अपने गीत गाना चाहती है उसकी अन्तःपटी ऐसी शून्य नहीं है, इतनी काली भी नहीं है कि उसकी उपेक्षा करके नये परदे, बेमेल परदे, केवल रक्तवर्णवाले हथौड़े और फावड़े के ही परदे लटकाये जायँ। उसमें देश की विभूति के दृश्य अंकित हैं, उसमें प्रकृति की रंगबिरंगी छटा चित्रित है, उसमें इतिहास के अतीत जीवनखण्ड की झाँकियाँ हैं, उसमें विश्वात्मा की काल्पनिक, सजीव तथा सगुण मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं, उसमें अर्थ-वैषम्य से विदलित प्राणियों के कंकाल अवस्थित हैं, उसमें जीवन के हर्षोल्लास की प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट है, उसमें करुणा के आँसू प्रवाहित हैं, उसमें क्रोध का भैरवनाद है, उसमें आश्चर्य का विवृत मुखमंडल है, उसमें घृणा की सिकुड़ी नासिका है, उसमें भय का सिमटा शरीर है—उसमें क्या नहीं है!

इन सब नेपथ्यों (परदों) में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कहीं 'साम्प्रदायिकता' की कूँची नहीं फिरी है, कहीं भेदभाव की लीपा-पोती नहीं है, कहीं विदेशी श्रृङ्खला की चकतियाँ नहीं लगाई गई हैं। केवल अभिनंदन है उन विदेशी प्रेरणाओं का, जिनकी अपने यहाँ अपेक्षा हो सकती थी। रहस्यवाद से तात्पर्य है, जिसके लिए भारतीय काव्य-परंपरा 'विधि' नहीं 'निषेध' का सिर हिलाती है। पर यदि उसका ग्रहण हुआ तो उससे अपने साहित्य की कोई विशेष हानि नहीं हुई, वह यहाँ आकर आपसे आप उसी अनंत में विलीन हो रहा है, जिसकी पुकार करता वह

आया था। वह जाते जाते हिन्दी को बहुत कुछ न सही, थोड़ी बहुत शक्ति अवश्य दे गया। वाणी की शक्ति, अभिव्यंजना की शक्ति, प्रयोगों की शक्ति वह लुटता गया है। पर जिस भूमि पर प्रगतिवादी रचना खड़ी हो रही है उस पर इतनी साज-सज्जा कदाचित् एकत्र न हो सकेगी। इसी से कहता हूँ कि यदि प्रगतिवाद काव्यक्षेत्र में कोई विलायती बीज बोना चाहता है तो उसे यह भी विचारना होगा कि वह बीज यहाँ के जलवायु में पनपेगा या नहीं, यदि पनप भी आया तो उसके क्षुप हरे भरे रह सकेंगे या नहीं, यदि हरे भरे हो भी गए तो उनमें दाने भी पड़ेंगे या नहीं। समष्टि में यह कि खेती में कुछ काटने को भी रह जायगा या फावड़ा चलाना ही हाथ रहेगा।

प्रकृत विषय पर आइए। प्रगतिवाद जिस छोर पर खड़ा हो रहा है, वह मुख्यतः श्रमिकों का छोटा सा कोना है। भाई, उनकी हृदयविदारक दशा सहृदयों को अवश्य व्यथित करती है। औरों को राम जाने, साहित्यिक तो निश्चय ही हृदय में आसन जमाने के लिए उनका अभिनंदन करता है। पर विचारिए तो आपकी हाट में उन श्रमिकों के कारुणिक जीवन के ही चित्र कितने लटकाये गये हैं। आप तो अधिकतर हुंकार करते हैं। आपके देश के सनातन आदर्श काल के अनेक धक्के खाकर भी अभी जीवित हैं। कितनी ही संस्कृतियाँ कब्र में गड़ गईं, पर अज्ञात काल से समय समय पर अपना रूप सँवारती चली आती आपकी भारत की संस्कृति अभी जी रही है, चिरकाल तक जीती रहेगी। सोचिए वह कौन सा तत्त्व है जिसके कारण भारत का प्राण उसकी संस्कृति अभी जी रही है, दासता में भी जीती रही, दरिद्रता में भी बनी रही। साहित्य कहेगा कि वह तत्त्व है 'हृदय', वह हृदय जो बुद्धि से सहयोग करके चलता है, वह हृदय जो रस की उच्च लोकभूमि पर, व्यक्ति के कलावादी टीले पर नहीं, ले जाता है। उसमें विविधता है, अनेकता है और सबमें से बहनेवाली समता की धारा है, सबको गूँथनेवाला एकता का सूत्र भी है। उसका साम्य अनेकत्व में एकत्व की स्थापना करता है। प्रकृत विविधता का गला घोंटकर वह कृत्रिम साम्य को जीने की घूँटी

नहीं पिलाता। सोचिए कि रूस के बुद्धिजीवी और हृदयजीवी साम्य का डंका पीटते ही वहाँ से क्यों भाग खड़े हुए। आपको इसका भी विचार करना होगा कि क्या रूस में ऐसा ही कोने पर खड़ा होनेवाला प्रगतिवाद है। भारत अभी इतना आत्मविस्मृत नहीं हो गया है कि हथौड़े की चोट से जगाया जाय। साहित्य और संस्कृति के नाते पश्चिमवाले घूमते-फिरते बहते-बहाते भारतीय रसधारा के निकट आ रहे हैं, और कहाँ यहाँवाले जीवन के खंड-खंड करके अखंड कला की सृष्टि कर रहे हैं। खंड जीवन की पुकार, अखंड जीवन की आकांक्षा बतलाई जा रही है। अतः निवेदन है कि ठंढे चित्त से सोच-विचारकर अपने प्रगतिवाद का अंचल पसारिए। शाप या रोष संचारी भाव मात्र हैं, क्रोध स्थायी नहीं, रौद्र रस नहीं, अन्य रसों की क्या कथा। इसलिए जीवन के सुख-दुःख की व्याप्ति का राजपथ ग्रहण कीजिए, 'प्रगति' की यह सँकरी पगडंडी त्यागिए।

---

Shri Maha devi Varma

महादेवी वर्मा

दीक्षा

## महादेवी वर्मा

(जन्म १६०७ ई०)

हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म फर्रुखाबाद में हुआ था। आप के पिता इन्दौर के किसी कालेज में प्रोफेसर थे। आपकी अधिकांश शिक्षा प्रयाग के 'क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज' में हुई और प्रयाग विश्वविद्यालय से आपने संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा पास की। बहुत दिनों से आप प्रयाग महिला-विद्यापीठ की प्रिन्सिपल हैं। नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्यगीत, यामा, दीपशिखा आदि आपके कविता-संग्रह हैं। अतीत के चलचित्र तथा शृंखला की कड़ियाँ संस्मरण एवं लेख-संग्रह हैं।

महादेवी जी इस युग की मीरा हैं। उनके हृदय की करुण-कोमल भावनाएँ गीतों में फूट पड़ी हैं। आपके गद्य का भी हिन्दी-साहित्य में एक विशेष स्थान है।

महादेवी जी की गद्यशैली काव्यात्मक है। उनके वाक्यों में भाव, विचार और कल्पना पिरोए से रहते हैं। वर्णन में आलंकारिकता होती है। भाषा यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी रहती है किन्तु यथावसर बोलचाल के तथा उर्दू के शब्दों का ऐसा उपयुक्त प्रयोग मिलता है कि वाक्यों में पिरोए जाकर उनमें अनुपम सौकर्य आ जाता है। वाक्य लम्बे होते हुए भी भावप्रकाशन में समर्थ होते हैं। संस्मरणों में करुण कोमलता के साथ ही बड़ी चित्रात्मकता भी है। आपका व्यंग भी करुण समवेदना से आर्द्र होता है क्योंकि उसका लक्ष्य प्रहार करना नहीं होता। आपकी शैली पर व्यक्तित्व की पूरी पूरी छाप है।

प्रस्तुत पाठ 'अतीत के चलचित्र' नामक पुस्तक से अवतरित है। संस्मरण के रूप में यह एक सजीव कहानी ही है। इसमें एक पितृहीन, निर्धन किन्तु कर्तव्य-परायण, आत्माभिमानी, ज्ञानपिपासु, गुरुभक्त, मातृभक्त, स्नेहशील एवं संकोचशील बालक का करुणा से आर्द्र चित्रण किया गया है। ग्रामीण वातावरण की सरस भूमिका पर अंकित इस स्मृतिचित्र में कथा, कविता एवं निबन्ध तीनों का सम्मिलन सा हो गया है। उपेक्षित घीसा के साथ ही साथ लेखिका का वात्सल्य एवं स्नेह से आर्द्र व्यक्तित्व भी पूर्णरूपेण झलक आया है।

———

Importance

# घीसा

गंगा पार झूँसी के खँडहर और उसके आस-पास के गाँवों के प्रति मेरा जैसा अकारण आकर्षण रहा है उसे देखकर ही सम्भवतः लोग जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध का व्यंग करने लगे हैं। है भी तो आश्चर्य की बात! जिस अवकाश के समय को लोग इष्ट-मित्रों से मिलने, उत्सवों में सम्मिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिए सुरक्षित रखते हैं उसी को मैं इस खँडहर और उसके क्षत-विक्षत चरणों पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नहीं, सुख से काट देती हूँ।

दूर पास बसे हुए गुड़ियों के बड़े घरौंदों के समान लगनेवाले कुछ लिपे-पुते, कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का झुंड पीतल-ताँबे के चमचमाते, मिट्टी के नये लाल और पुराने भदरंग घड़े लेकर गंगाजल भरने आता है उसे भी मैं पहचान गई हूँ। उनमें कोई बूटेदार लाल, कोई निरी काली, कोई कुछ सफेद और कोई मैल और सूत में अद्वैत स्थापित करनेवाली, कोई कुछ नई और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती है। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी सिंदूर-रेखा अस्त होते सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी के कड़वे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी-छोटी लटें मुख को घेरकर उसकी उदासी को और अधिक केंद्रित कर देती हैं। किसी की साँवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रह-रहकर हीरे-से चमक जाते हैं और किसी के दुर्बल काले पहुँचे पर लाख की पीली मैली चूड़ियाँ काले पत्थर पर मटमैले चन्दन की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े की ओट में छिपाने का प्रयत्न-सा करती रहती है और कोई चाँदी के पछेली-ककना की झनकार के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसे वाली तरकी

धोती से कभी-कभी झाँक भर लेती है और किसी की दारें लम्बी जंजीर से गला और गाल एक करती रहती हैं। किसी के गुदना गुदे गेहुँए पैरों में चाँदी के कड़े सुडौलता की परिधि-सी लगते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफेद एड़ियों के साथ मिली हुई स्याही राँगे और काँसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियाँ बना देती हैं।

वे सब पहले हाथ-मुँह धोती हैं फिर पानी में कुछ घुसकर घड़ा भर लेती हैं—तब घड़ा किनारे रख सिर पर इँडुरी ठीक करती हुई मेरी ओर देखकर कभी मलीन, कभी उजली, कभी दुःख की व्यथा-भरी, कभी सुख की कथा-भरी मुस्कान से मुस्करा देती हैं। अपने मेरे बीच का अन्तर उन्हें ज्ञात है तभी कदाचित् वे इस मुस्कान के सेतु से उसका वार-पार जोड़ना नहीं भूलतीं।

ग्वालों के बालक अपनी चरती हुई गाय-भैंसों में से किसी को उस ओर बहकते देखकर ही लकुटी लेकर दौड़ सकते हैं, गड़ेरियों के बच्चे अपने झुण्ड की एक भी बकरी या भेड़ को उस ओर बढ़ते देखकर कान पकड़कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन भर गुल्ली-डंडा खेलनेवाले निठल्ले लड़के भी बीच-बीच में नजर बचाकर मेरा रुख देखना नहीं भूलते।

उस पार शहर में दूध बेचने जाते या लौटते हुए ग्वाले, किले में काम करने जाते या घर आते हुए मजदूर, नाव बाँधते या खोलते हुए मल्लाह कभी-कभी 'चुनरी त रँगाउब लाल मजीठी हो' गाते-गाते मुझ पर दृष्टि पड़ते ही अकचकाकर चुप हो जाते हैं। कुछ विशेष सभ्य होने का गर्व करनेवालों से मुझे एक सलज्ज नमस्कार भी प्राप्त हो जाता है।

कह नहीं सकती कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया। पर जब बिना कार्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारियों के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चन्दे के, अपील के और सारांश यह कि बिना किसी चिर-परिचित समारोह के मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड़

की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो गये तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गम्भीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे सो कैसे बताऊँ! कुछ कानों में बालियाँ और हाथों में कड़े पहने, धुले कुरते और ऊँची मैली धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पड़ते थे, कुछ अपने बड़े भाई का पाँव तक लम्बा कुरता पहने, खेत में डराने के लिए खड़े किये हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टाँगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-सन्तान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल, रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आँखों में संसार भर की उपेक्षा बटोरे बैठे थे। पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूली मुझे अब तक नहीं भूली। सन्ध्या के लाल सुनहली आभावाले उड़ते हुए दुकूल पर रात्रि ने मानो छिपकर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाववाला कुछ चिन्तित-सा लहरों की ओर देख रहा था; बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज-कलम आदि सँभालकर नाव पर रख-कर बढ़ते अन्धकार पर खिजलाकर बुदबुदा रही थी या मुझे कुछ सनकी बनानेवाले विधाता पर, यह समझना कठिन था। बेचारी मेरे साथ रहते रहते दस लम्बे वर्ष काट आयी है, नौकरानी से अपने आपको एक प्रकार की अभिभाविका मानने लगी है, परन्तु मेरी सनक का दुष्परिणाम सहने के अतिरिक्त उसे क्या मिला है! सहसा ममता से मेरा मन भर आया, परन्तु नाव की ओर बढ़ते हुए मेरे पैर, फैलते हुए अन्धकार में से एक स्त्री-मूर्ति को अपनी ओर आता देख ठिठक रहे। साँवले, कुछ लम्बे-से मुखड़े में पतले स्याह ओठ कुछ अधिक स्पष्ट हो रहे थे। आँखें छोटी, पर व्यथा से आर्द्र थीं। मलिन बिना किनारी की गाढ़े की धोती ने उसके सलूक रहित अंगों को भली भाँति ढँक लिया था, परन्तु तब भी शरीर की सुडौलता का आभास मिल रहा था। कन्धे पर हाथ रखकर वह जिस

धोती से कभी-कभी झाँक भर लेती है और किसी की ढारें लम्बी जंजीर से गला और गाल एक करती रहती हैं। किसी के गुदना गुदे गेहुँए पैरों में चाँदी के कड़े सुडौलता की परिधि-सी लगते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफेद एड़ियों के साथ मिली हुई स्याही राँगे और काँसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियाँ बना देती हैं।

वे सब पहले हाथ-मुँह धोती हैं फिर पानी में कुछ घुसकर घड़ा भर लेती हैं—तब घड़ा किनारे रख सिर पर इँडुरी ठीक करती हुई मेरी ओर देखकर कभी मलीन, कभी उजली, कभी दुःख की व्यथा-भरी, कभी सुख की कथा-भरी मुस्कान से मुस्करा देती हैं। अपने मेरे बीच का अन्तर उन्हें ज्ञात है तभी कदाचित् वे इस मुस्कान के सेतु से उसका बार-पार जोड़ना नहीं भूलतीं।

ग्वालों के बालक अपनी चरती हुई गाय-भैंसों में से किसी को उस ओर बहकते देखकर ही लकुटी लेकर दौड़ सकते हैं, गड़ेरियों के बच्चे अपने झुण्ड की एक भी बकरी या भेड़ को उस ओर बढ़ते देखकर कान पकड़कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन भर गुल्ली-डंडा खेलनेवाले निठल्ले लड़के भी बीच-बीच में नजर बचाकर मेरा रुख देखना नहीं भूलते।

उस पार शहर में दूध बेचने जाते या लौटते हुए ग्वाले, किले में काम करने जाते या घर आते हुए मजदूर, नाव बाँधते या खोलते हुए मल्लाह कभी-कभी 'चुनरी त रँगाउब लाल मजीठी हो' गाते-गाते मुझ पर दृष्टि पड़ते ही अकचकाकर चुप हो जाते हैं। कुछ विशेष सभ्य होने का गर्व करनेवालों से मुझे एक सलज्ज नमस्कार भी प्राप्त हो जाता है।

कह नहीं सकती कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया। पर जब बिना कार्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारियों के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चन्दे के, अपील के और सारांश यह कि बिना किसी चिर-परिचित समारोह के मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड़

की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो गये तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गम्भीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे सो कैसे बताऊँ! कुछ कानों में बालियाँ और हाथों में कड़े पहने, धुले कुरते और ऊँची मैली धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पड़ते थे, कुछ अपने बड़े भाई का पाँव तक लम्बा कुरता पहने, खेत में डराने के लिए खड़े किये हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टाँगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-सन्तान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल, रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आँखों में संसार भर की उपेक्षा बटोरे बैठे थे। पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूली मुझे अब तक नहीं भूली। सन्ध्या के लाल सुनहली आभावाले उड़ते हुए दुकूल पर रात्रि ने मानो छिपकर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाववाला कुछ चिन्तित-सा लहरों की ओर देख रहा था; बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज-कलम आदि सँभालकर नाव पर रख-कर बढ़ते अन्धकार पर खिजलाकर बुदबुदा रही थी या मुझे कुछ सनकी बनानेवाले विधाता पर, यह समझना कठिन था। बेचारी मेरे साथ रहते रहते दस लम्बे वर्ष काट आयी है, नौकरानी से अपने आपको एक प्रकार की अभिभाविका मानने लगी है, परन्तु मेरी सनक का दुष्परिणाम सहने के अतिरिक्त उसे क्या मिला है! सहसा ममता से मेरा मन भर आया, परन्तु नाव की ओर बढ़ते हुए मेरे पैर, फैलते हुए अन्धकार में से एक स्त्री-मूर्ति को अपनी ओर आता देख ठिठक रहे। साँवले, कुछ लम्बे-से मुखड़े में पतले स्याह ओठ कुछ अधिक स्पष्ट हो रहे थे। आँखें छोटी, पर व्यथा से आर्द्र थीं। मलिन बिना किनारी की गाढ़े की धोती ने उसके सलूक रहित अंगों को भली भाँति ढँक लिया था, परन्तु तब भी शरीर की सुडौलता का आभास मिल रहा था। कन्धे पर हाथ रखकर वह जिस

दुर्बल अर्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाये हुए थी उसे मैंने सन्ध्या के झुटपुटे में ठीक से नहीं देखा।

स्त्री ने रुक-रुककर कुछ शब्दों और कुछ संकेत में जो कहा उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं हैं, दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूँ तो यह कुछ तो सीख सके।

दूसरे इतवार को मैंने उसे सबसे पीछे अकेले एक ओर दुबककर बैठे हुए देखा। पक्का रंग पर गठन में विशेष सुडौल, मलिन मुख जिसमें दो पीली पर सचेत आँखें जड़ी-सी जान पड़ती थीं। कस कर बन्द किये हुए पतले होठों की दृढ़ता और सिरपर खड़े हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थीं। उभरी हड्डियाँ वाली गर्दन को सँभाले हुए झुके कन्धों से, रक्त-हीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े-मेढ़े कटे हुए नाखूनों-युक्त हाथों वाली पतली बाँहें ऐसी झूलती थीं जैसे ड्रामा में विष्णु बननेवाले की दो भुजाएँ। निरन्तर दौड़ते रहने के कारण उस लचीले शरीर में दुबले पैर ही विशेष पुष्ट जान पड़ते थे।—बस ऐसा ही था वह घीसा। न नाम में कवित्व की गुञ्जाइश न शरीर में।

पर उसकी सचेत आँखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी! वे निरन्तर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती थीं। मानो मेरी सारी विद्या-बुद्धि को सोख लेना ही उनका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिंचे-खिंचे-से रहते थे। इसलिए नहीं कि वह कोरी था वरन् इसलिए कि किसी की माँ, किसी की नानी, किसी की बूआ आदि ने घीसा से दूर रहने की नितान्त आवश्यकता उन्हें कान पकड़-पकड़ कर समझा दी थी।—यह भी उन्हीं ने बताया और बताया घीसा के सब से अधिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नहीं रहा। घर में कोई देखने-भालने वाला न होने के कारण माँ उसे बँदरिया के बच्चे

के समान चिपकाए फिरती थी। उसे एक ओर लिटा कर जब वह मज़दूरी के काम में लग जाती थी, तब पेट के बल घसिट-घसिट कर बालक संसार के प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता जाता था।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रियाँ भी मुझे आते-जाते रोक कर अनेक प्रकार की भावभंगिमा के साथ एक विचित्र सांकेतिक भाषा में घीसा की जन्म-जात अयोग्यता का परिचय देने लगीं। क्रमशः मैंने उसके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी जाना।

उसका बाप था तो कोरी, पर बड़ा ही अभिमानी और भला आदमी बनने का इच्छुक। डलिया आदि बुनने का काम छोड़ कर वह थोड़ी बढ़ई-गीरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं; एक दिन चुपचाप दूसरे गाँव से युवती वधू लाकर उसने अपने गाँव की सब सजातीय सुन्दर बालिकाओं को उपेक्षित और उनके योग्य माता-पिता को निराश कर डाला। मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है, परन्तु ऐसे अवसर पर भगवान की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसी से जब गाँव के चौखट-किवाड़ बनाकर और ठाकुरों के घरों में सफेदी करके उसने कुछ ठाट-बाट से रहना आरम्भ किया तब अचानक हैज़े के बहाने वह वहाँ बुला लिया गया जहाँ न जाने का बहाना न उसकी बुद्धि सोच सकी न अभिमान। पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली। गाँव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने केवल उदारतावश उसकी नैया पार लगाने का उत्तरदायित्व लेना चाहा, परन्तु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया प्रत्युत उसे नमक-मिर्च लगाकर तीता भी कर दिया। कहा 'हम सिंघ के मेहरारू होइके का सियारन के जाब।' फिर बिना स्वर ताल के आँसू गिरा कर बाल खोल कर, चूड़ियाँ फोड़ कर और बिना किनारे की धोती पहन कर जब उसने बड़े घर की विधवा का स्वाँग भरना आरम्भ किया तब तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। उस पर घीसा बाप के मरने के बाद हुआ है। हुआ तो वास्तव में छः महीने बाद, परन्तु उस समय के सम्बन्ध में क्या कहा

जाय जिसका कभी एक क्षण वर्ष-सा बीतता है और कभी एक वर्ष क्षण हो जाता है। इसी से यदि वह छः मास का समय रबर की तरह खींच कर एक साल की अवधि तक पहुँच गया तो इसमें गाँववालों का क्या दोष!

यह कथा अनेक क्षेपकोंमय विस्तार के साथ सुनायी तो गयी थी मेरा मन फेरने के लिए और मन फिरा भी, परन्तु किसी सनातन नियम से कथा-वाचकों की ओर न फिर कर कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-सम्बन्धी अपवाद कदाचित् पूरा नहीं समझ पाया था, परन्तु अधूरे का भी प्रभाव उस पर कम न था क्योंकि वह सबको अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता मानो उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढ़ने, उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक में एक भी धब्बा न लगाने, स्लेट को चमचमाती रखने और अपने छोटे-से-छोटे काम का उत्तरदायित्व बड़ी गम्भीरता से निभाने में उसके समान कोई चतुर न था। इसी से कभी-कभी मन चाहता था कि उसकी माँ से उसे माँग ले जाऊँ और अपने पास रख कर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूँ—परन्तु उस उपेक्षिता पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोड़ने पर प्रस्तुत न होगी यह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्वह हो सकता है यह भी मुझ से छिपा न था। फिर नौ साल के कर्तव्य-परायण घीसा की गुरु-भक्ति देख कर उसकी मातृ-भक्ति के सम्बन्ध में कुछ सन्देह करने का स्थान ही नहीं रह जाता था और इस तरह घीसा वहीं और उन्हीं कठोर परिस्थितियों में रहा जहाँ क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनो-विनोद के लिए ही उसे रख दिया था।

शनिश्चर के दिन ही वह अपने छोटे दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर-मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था। फिर इतवार को माँ को मज़दूरी पर जाते ही एक मैले फटे कपड़े में बँधी मोटी रोटी और कुछ नमक या थोड़ा चबेना और एक डली गुड़ बगल में दबाकर, पीपल की

छाया को एक बार फिर झाड़ने-बुहारने के पश्चात् वह गंगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आँखों पर क्षीण साँवले हाथ की छाया कर दूर दूर तक दृष्टि को दौड़ाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफेद नाव की झलक दिखाई पड़ती वैसे ही वह अपनी पतली टाँगों पर तीर के समान उड़ता और बिना नाम लिए हुए गुरु साहब कहता हुआ फिर पेड़ के नीचे पहुँच जाता जहाँ न जाने कितनी बार दुहराये तिहराये हुए कार्य-क्रम की एक अन्तिम आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड़ की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतलपाटी उतार कर बार-बार झाड़-पोंछ कर बिछायी जाती, कभी काम न आनेवाली सूखी स्याही से काली, कच्चे काँच की दवात, टूटे निब और उखड़े हुए रंगवाले भूरे हरे कलम के साथ पेड़ के कोटर से निकाल कर यथास्थान रख दी जाती और तब इस चित्र पाठशाला का विचित्र मंत्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ़ कर मेरे सप्रणाम स्वागत के लिए वह प्रस्तुत हो जाता।

महीने में चार दिन ही मैं वहाँ पहुँच सकती थी और कभी कभी काम की अधिकता से एक-आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था, पर उस थोड़े से समय और इने-गिने दिनों में भी मुझे उस बालक के हृदय का जैसा परिचय मिला वह चित्रों के एल्बम के समान निरन्तर नवीन-सा लगता।

मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुए ही उन बेचारों को सफाई का महत्त्व समझाते समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे-के-तैसे ही सामने थे—केवल कुछ गंगाजी में मुँह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था, कुछ ने हाथ पाँव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोड़े हुए-से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिए कोट से मैले फटे कुरते घर ही छोड़ कर ऐसे अस्थिपंजरमय रूप में आ उपस्थित हुए थे जिसमें उनके प्राण, 'रहने का आश्चर्य है गये अचम्भा

कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे। पर घीसा ग़ायब था। पूछने पर लड़के काना-फूँसी करने या एक साथ सभी उसकी अनुपस्थिति का कारण सुनने को आतुर होने लगे। एक-एक शब्द जोड़-तोड़ कर समझना पड़ा कि माँ से कपड़ा धोने के साबुन के लिए तभी से कह रहा था—माँ को मजदूरी के पैसे मिले नहीं और दूकानदार ने नाज लेकर साबुन दिया नहीं। कल रात को माँ को पैसे मिले और सवेरे वह सब काम छोड़ कर पहले साबुन लेने गयी। अभी लौटी है, अतः घीसा कपड़े धो रहा है क्योंकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा-धोकर साफ़ कपड़े पहन कर आना। और अभागे के पास कपड़े ही क्या थे! किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अँगौछा जैसा फटा टुकड़ा। जब घीसा नहा कर गीला अँगौछा लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने आ खड़ा हुआ तब आँखें ही नहीं मेरा रोम-रोम गीला हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य नें अपने भील शिष्य से अँगूठा कैसे कटवा लिया था।

एक दिन न जाने क्या सोच कर मैं उन विद्यार्थियों के लिए ५-६ सेर जलेबियाँ ले गयी पर कुछ तोलनेवाले की सफाई से, कुछ तुलवाने वाले की समझदारी से और कुछ वहाँ की छीना-झपटी के कारण प्रत्येक को पाँच से अधिक न मिल सकी। एक कहता था मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया मेरी अमुक ने छीन ली, तीसरे को घर में सोते हुए छोटे भाई के लिए चाहिए, चौथे को किसी और की याद आ गयी। पर इस कोलाहल में अपने हिस्से की जलेबियाँ लेकर घीसा कहाँ खिसक गया यह कोई न जान सका। एक नटखट अपने साथी से कह रहा था 'एक ठो पिलवा पाले है ओही का देय बरे गा होई' पर मेरी दृष्टि से संकुचित होकर चुप रह गया। और तब तक घीसा लौटा ही। उसका सब हिसाब ठीक था—जलखईवाले छन्ने में दो जलेबियाँ लपेट कर वह माई के लिए छप्पर में खोंस आया है, एक उसने अपने पाले हुए, बिना माँ के, कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वयं खा लीं। 'और चाहिए' पूछने पर

उसकी संकोच भरी आँखें झुक गयीं—ओठ कुछ हिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली है। दें तो गुरु साहब पिल्ले को ही एक और दे दें।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति में ऐसे गहरे रंगों में अंकित है जिसका धुल सकना सहज नहीं। उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और किसी दिन उसके चरम सीमा तक पहुँच जाने की पूर्ण संभावना थी। घीसा दो सप्ताह से ज्वर में पड़ा था—दवा मैं भिजवा देती थी परन्तु देख भाल का कोई ठीक प्रबन्ध न हो पाता था। दो चार दिन उसकी माँ स्वयं बैठी रही फिर एक अंधी बुढ़िया को बैठा कर काम पर जाने लगी।

इतवार की साँझ को मैं यथाक्रम बच्चों को विदा दे घीसा को देखने चली; परन्तु पीपल से पचास पग दूर पहुँचते-न-पहुँचते उसी को डगमगाते पैरों से गिरते-पड़ते अपनी ओर आते देख मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पन्द्रह दिन से उठा नहीं था, अतः मुझे उसके सन्निपात-ग्रस्त होने का ही सन्देह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत-सी दौड़ रही थी। आँखें और भी सतेज और मुख ऐसा था जैसे हल्की आँच में धीरे-धीरे लाल होने वाला लोहे का टुकड़ा।

पर उसके वात-ग्रस्त होने से भी अधिक चिन्ताजनक उसकी समझदारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था पर पानी पास मिला नहीं और अंधी मनियाँ की आजी से माँगना ठीक न समझ कर वह चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने में मुल्लू के कक्का ने पार से लौट कर दरवाजे से ही अंधी को बताया कि शहर में दंगा हो रहा है और तब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह ऐसे हौले-हौले उठा कि बुढ़िया को पता ही न चला और कभी दीवार, कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोड़ धर कर यहीं पड़ा रहेगा पर पार किसी तरह भी न जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गयी। पार तो मुझे पहुँचना था

ही पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझा कर जिससे उसकी स्थिति और गम्भीर न हो जाय। पर सदा के संकोची, नम्र और आज्ञाकारी घीसा का इस दृढ़ और हठी बालक में पता ही न चलता था। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर हताहत दो मल्लाह देखे थे और कदाचित् इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क उन चित्रों में गहरा रंग भरकर मेरी उलझन को और उलझा रहा था। पर उसे समझाने का प्रयत्न करते-करते अचानक ही मैंने ऐसा तार छू दिया जिसका स्वर मेरे लिए भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास रेल में बैठ कर दूर-दूर से आये हुए बहुत से विद्यार्थी हैं जो अपनी माँ के पास साल भर में एक बार ही पहुँच पाते हैं और जो मेरे न जाने से अकेले घबरा जायँगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध ऐसे बह गया जैसे वह कभी था ही नहीं—और तब घीसा के समान तर्क की क्षमता किसमें थी! जो साँझ को अपनी माई के पास नहीं जा सकते उनके पास गुरु साहब को जाना ही चाहिये। घीसा रोकेगा तो उसके भगवान जी गुस्सा हो जायँगे क्योंकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार घूमता देखकर गुरु साहब को भेज देते हैं आदि-आदि। उसके तर्कों का स्मरण कर आज भी मन भर आता है। परन्तु उस दिन मुझे आपत्ति से बचाने के लिए अपने बुखार से जलते हुए अशक्त शरीर के घसीट लानेवाले घीसा को जब उसकी टूटी खटिया पर लिटा कर लौटी तब मेरे मन में कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरान्त घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियों को बाँध कर उन्मत्त के समान घूमनेवाली गर्मी की हवा से उसका रोज़ संग्राम छिड़ने लगा—झाड़ते-झाड़ते ही वह पाठशाला धूल-धूसरित होकर, भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तों की चादर में छिप कर, तथा कंकालशेष शाखाओं में उलझते, सूखे पत्तों को पुकारते वायु की संतप्त सर-सर से मुखरित होकर उस भ्रान्त बालक को चिढ़ाने लगती। तब मैंने तीसरे पहर से सन्ध्या समय तक रहने का निश्चय किया, परन्तु पता चला घीसा किसकिसाती आँखों को मलता और पुस्तक से बार-बार धूल झाड़ता हुआ

दिन भर वहीं पेड़ के नीचे बैठा रहता है मानो वह किसी प्राचीन युग का तपोव्रती अनागरिक ब्रह्मचारी हो जिसकी तपस्या भंग करनेके लिए ही लू के झोंके आते हैं।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाईं छूने के लिए दौड़ते हुए बालक के समान झपट कर उस दिन पर उँगली धर दी, जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा। कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न! कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिपकियाँ रख कर गिने जायँ या कोयले की लकीरें खींचकर। कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों पर अकारण की ही चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था, अतः सदा के समान आज भी मैंने उसे न खोज पाया। जब मैं कुछ चिन्तित-सी वहाँ से चली तब मन भारी-भारी हो रहा था, आँखों में कोहरा-सा घिर-घिर आता था। वास्तव में उन दिनों डाक्टरों को मेरे पेट में फोड़ा होने का सन्देह हो रहा था—ऑपरेशन की सम्भावना थी। कब लौटूँगी या नहीं लौटूँगी यही सोचते-सोचते मैंने फिर कर चारों ओर जो आर्द्र दृष्टि डाली वह कुछ समय तक उन परिचित स्थानों को भेंट कर वहीं उलझ रही।

पृथ्वी के उच्छ्वास के समान उठते हुए धुँधलेपन में वे कच्चे घर आकण्ठ मग्न हो गए थे—केवल फूस के मटमैले और खपरैल के कत्थई और काले छप्पर, वर्षा में बढ़ी गंगा के मिट्टी जैसे जल में पुरानी नावों के समान जान पड़ते थे। कछार की बालू में दूर तक फैले तरबूज और खरबूज के खेत अपनी सिरकी और फूस के मुठियों, टट्टियों और रखवाली के लिए बनी पर्णकुटियों के कारण जल में बसे किसी आदिम द्वीप का स्मरण दिलाते थे। उनमें एक-दो दिये जल चुके थे तब मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा यह मैंने दूर से ही जान लिया। आज गुरु साहब को उसे बिदा देना है यह उसका

नन्हा हृदय अपनी पूरी सँवेदन-शक्ति से जान रहा था इसमें सन्देह नहीं था। परन्तु उस उपेक्षित बालक के मन में मेरे लिए कितनी सरल ममता और मेरे विछोह की कितनी गहरी व्यथा हो सकती है यह जानना मेरे लिए शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूली में बादामी कागज पर काले चित्र के समान लगनेवाला नंगे बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में सम्हाले था जिसमें बीच के कुछ कटे भाग में से भीतर की ईषत्लक्ष्य ललाई चारों ओर के गहरे हरेपन में कुछ खिले कुछ बन्द गुलाबी फूल जैसी जान पड़ती थी।

घीसा के पास न पैसा था न खेत—तब क्या वह इसे चुरा लाया है! मन का सन्देह बाहर आया ही और तब मैंने जाना कि जीवन का खरा सोना छिपाने के लिए उस मलीन शरीर को बनानेवाला ईश्वर उस बूढ़े आदमी से भिन्न नहीं जो अपनी सोने की मोहर को कच्ची मिट्टी की दीवार में रख कर निश्चिन्त हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवान जी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था। माई के लौटने में न जाने क्यों देर हो गयी तब उसे अकेले ही खेत पर जाना पड़ा। वहाँ खेत वाले का लड़का था जिसकी उसके नये कुरते पर बहुत दिन से नजर थी। प्रायः सुना-सुना कर कहता रहता था जिनकी भूख जूठी पत्तल से बुझ सकती है उनके लिए परोसा लगानेवाले पागल होते हैं। उसने कहा पैसा नहीं है तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता तो कल उसका क्या करता। इससे कुरता दे आया—पर गुरु साहब को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि गर्मी में वह कुरता पहनता ही नहीं और जाने-आने के लिए पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो इसलिए कटवाना पड़ा—मीठा है या नहीं यह देखने के लिए उँगली से कुछ निकाल भी लेना पड़ा।

गुरु साहब न लें तो घीसा रात भर रोयेगा—छुट्टी भर रोयेगा, ले जावें तो वह रोज़ नहा-धोकर पेड़ के नीचे पढ़ा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी किताब पट्टी पर लिख कर दिखा सकेगा।

और तब अपने स्नेह में प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रख कर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तटपर किसी गुरु को किसी शिष्य से ऐसी दक्षिणा मिली होगी ऐसा मुझे विश्वास नहीं, परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार के अबतक सारे आदान-प्रदान फीके जान पड़े।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबन्ध कर मैं बाहर चली गयी और लौटते-लौटते कई महीने लग गये। इस बीच में उसका कोई समाचार न मिलना ही सम्भव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका तब घीसा को उसके भगवानजी ने सदा के लिए अवकाश दे दिया था—आज वह कहानी दोहराने की शक्ति मुझ में नहीं है।

———

# हजारीप्रसाद द्विवेदी

(जन्म १९०७ ई०)

प्रसिद्ध वक्ता, आलोचक एवं निवन्धकार पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का जन्मस्थान वलिया जिले में है। काशी-विश्वविद्यालय से ज्योतिष एवं संस्कृत साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त कर आप रवि वावू के शान्ति-निकेतन चले गए और वहाँ अनेक वर्षों तक हिन्दी के प्रधानाध्यापक रहे। गुरुदेव तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के सम्पर्क में आकर द्विवेदी जी की प्रतिभा को पूर्णरूपेण विकास-मार्ग मिल गया। आपके लेखों ने थोड़े ही समय में हिन्दी-साहित्य-जगत् को अपनी ओर आकर्षित कर लिया और द्विवेदी जी इस युग के प्रमुख गद्य-लेखकों में गिने जाने लगे। प्रायः दो वर्षों से आप काशी-विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। आपकी प्रमुख रचनाएँ ये हैं—'सूर साहित्य', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कवीर', 'अशोक के फूल', 'प्राचीन भारत का कला-विकास', 'वाणभट्ट की आत्म-कथा', 'नाथ-सम्प्रदाय' और 'कल्पलता'। निवन्धों के रूप में उनकी समी-क्षाएँ मासिक पत्रों में वरावर निकलती रहती हैं।

द्विवेदी जी प्राचीन भारतीय संस्कृति और कला के सहृदय अन्वेषक हैं। प्राचीन और नवीन साहित्यों के परख की आपको एक सी अन्तर्दृष्टि मिली है। आपकी भाषा वड़ी ही परिष्कृत, सप्राण एवं ओजपूर्ण होती हैं। द्विवेदी जी की शैली पाठक को साथ लेकर चलती है। शब्द-चयन में द्विवेदी जी उदार मनोवृत्ति के कहे जायँगे। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ उर्दू के तत्सम शब्दों का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है किन्तु इन दो प्रकार के शब्दों से भाषा में कहीं भी अजनवीपन नहीं आने पाया है। किसी हद तक द्विवेदी जी ने विषय के अनुसार पदावली का भी प्रयोग किया है। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में जिस समास-वहुल एवं अलंकृत संस्कृत पदावली का प्रयोग मिलता है उसका 'कवीर' में अभाव है। इसकी भापा में उर्दू के शब्दों की भी कमी नहीं। 'नाथ सम्प्रदाय' में

अन्वेषण की गम्भीरता है। किन्तु शैली के आन्तरिक गुण सर्वत्र एक से हैं। सर्वत्र एक ओज, एक वाँकपन एवं वैयक्तिकता मिलेगी। विचार एवं अनुभूति का ऐसा अनूठा मेल कम लेखकों में पाया जाता है। न कहीं व्यंग है, न कटूक्तियाँ। हार्दिकता, सहानुभूति एवं उल्लास से शैली सरस हो उठी है।

प्रस्तुत निबन्ध 'कल्पलता' नामक निबन्ध-संग्रह से अवतरित किया गया है। हिन्दी में इस प्रकार के कल्पना-रंजित, स्वच्छन्द एवं रागयुक्त निबन्ध कम लिखे गये हैं। एक सामान्य सा व्यापार लेकर लेखक की भावधारा आगे बढ़ी है और उसने निष्कर्ष निकाला कि "नाखूनों का बढ़ना मनुष्य की उस अन्ध सहजात वृत्ति का परिणाम है, जो उसके जीवन में सफलता ले आना चाहती है, उसको काट देना उस 'स्वनिर्धारित आत्म-बन्धन का फल है, जो उसे चरितार्थता की ओर ले जाती है।" शैली में एक विचित्र रंजकता एवं वैयक्तिकता है।

---

# 'नाखून क्यों बढ़ते हैं ?'

बच्चे कभी-कभी चक्कर में डाल देनेवाले प्रश्न कर बैठते हैं। अल्पज्ञ पिता बड़ा दयनीय जीव होता है। मेरी छोटी लड़की ने जब उस दिन पूछ दिया कि आदमी के नाखून क्यों बढ़ते हैं, तो मैं कुछ सोच ही नहीं सका। हर तीसरे दिन नाखून बढ़ जाते हैं। बच्चे कुछ दिन तक अगर उन्हें बढ़ने दें, तो माँ-बाप अक्सर उन्हें डाँटा करते हैं। पर कोई नहीं जानता कि ये अभागे नाखून क्यों इस प्रकार बढ़ा करते हैं। काट दीजिए, वे चुपचाप दण्ड स्वीकार कर लेंगे; पर निर्लज्ज अपराधी की भाँति फिर छूटते ही सेंध पर हाजिर। आखिर ये इतने बेहया क्यों हैं ?

कुछ लाख ही वर्षों की बात है, जब मनुष्य जंगली था; बनमानुष-जैसा। उसे नाखून की जरूरत थी। उसकी जीवन-रक्षा के लिए नाखून बहुत जरूरी थे। असल में वही उसके अस्त्र थे। दाँत भी थे, पर नाखून के बाद ही उनका स्थान था। उन दिनों उसे जूझना पड़ता था, प्रति-द्वन्द्वियों को पछाड़ना पड़ता था, नाखून उसके लिए आवश्यक अंग था। फिर धीरे-धीरे वह अपने अंग से बाहर की वस्तुओं का सहारा लेने लगा। पत्थर के ढेले और पेड़ की डालें काम में लाने लगा (रामचन्द्रजी की वानरी सेना के पास ऐसे ही अस्त्र थे)। उसने हड्डियों के भी हथियार बनाये। इन हड्डी के हथियारों में सबसे मजबूत और सबसे ऐतिहासिक था देवताओं के राजा का वज्र, जो दधीचि मुनि की हड्डियों से बना था। मनुष्य और आगे बढ़ा। उसने धातु के हथियार पाये। जिनके पास लोहे के शस्त्र और अस्त्र थे, वे विजयी हुए। देवताओं के राजा तक को मनुष्यों के राजा से इसलिए सहायता लेनी पड़ती थी कि मनुष्यों के राजा के पास लोहे के अस्त्र थे। असुरों के पास अनेक विद्याएँ थीं, पर लोहे के अस्त्र नहीं थे, शायद घोड़े भी नहीं थे। आर्यों के पास ये दोनों चीजें थीं। आर्य विजयी हुए।

फिर इतिहास अपनी गति से बढ़ता गया। नाग हारे, सुपर्ण हारे, यक्ष हारे, गन्धर्व हारे, असुर हारे, राक्षस हारे। लोहे के अस्त्रों ने बाजी मार ली। इतिहास आगे बढ़ा। पलीते वाली बन्दूकों ने, कारतूसों ने, तोपों ने, बमों ने, बम-वर्षक वायुयानों ने इतिहास को किस कीचड़-भरे घाट तक घसीटा है, यह सबको मालूम है। नख-धर मनुष्य अब एटम बम पर भरोसा करके आगे की ओर चल पड़ा है। पर उसके नाखून अब भी बढ़ रहे हैं। अब भी प्रकृति मनुष्य को उसके भीतर वाले अस्त्र से वञ्चित नहीं कर रही है, अब भी वह याद दिला देती है कि तुम्हारे नाखून को भुलाया नहीं जा सकता। तुम वही लाख वर्ष पहले के नख-दन्तावलम्बी जीव हो—पशु के साथ एक ही सतह पर विचरनेवाले और चरनेवाले।

ततः किम्? मैं हैरान होकर सोचता हूँ कि मनुष्य आज अपने बच्चों को नाखून न काटने के लिए डाँटता है। किसी दिन—कुछ थोड़े लाख वर्ष पूर्व—वह अपने बच्चों को नाखून नष्ट करने पर डाँटता रहा होगा। लेकिन प्रकृति है कि वह अब भी नाखून को जिलाये जा रही है और मनुष्य है कि वह अब भी उसे काटे जा रहा है। वे कम्बख्त रोज बढ़ते हैं, क्योंकि वे अन्धे हैं, नहीं जानते कि मनुष्य को इससे कोटि-कोटि गुना शक्तिशाली अस्त्र मिल चुका है! मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य अब नाखून को नहीं चाहता। उसके भीतर बर्बर-युग का कोई अवशेष रह जाय, यह उसे असह्य है। लेकिन यह भी कैसे कहूँ, नाखून काटने से क्या होता है? मनुष्य की बर्बरता घटी कहाँ है, वह तो बढ़ती ही जा रही है! मनुष्य के इतिहास में हिरोशिमा का हत्याकाण्ड बार-बार थोड़े ही हुआ है। यह तो उसका नवीन-तम रूप है! मैं मनुष्य के नाखून की ओर देखता हूँ, तो कभी-कभी निराश हो आता हूँ। ये उसकी भयंकर पाशवी वृत्ति के जीवन्त प्रतीक हैं। मनुष्य की पशुता को जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती।

कुछ हज़ार साल पहले मनुष्य ने नाखून को सुकुमार विनोदों के लिये उपयोग में लाना शुरू किया था। वात्स्यायन के कामसूत्र से पता चलता है

कि आज से दो हजार वर्ष पहले का भारतवासी नाखूनों को जम के सँवारता था। उनके काटने की कला काफ़ी मनोरञ्जक बतायी गयी है। त्रिकोण, वर्तुलाकार, चन्द्राकार, दन्तुल आदि विविध आकृतियों के नाखून उन दिनों विलासी नागरिकों के न जाने किस काम आया करते थे। उनको सिक्थक (मोम) और अलक्तक (आलता) से यत्नपूर्वक रगड़कर लाल और चिकना बनाया जाता था। गौड़देश के लोग उन दिनों बड़े-बड़े नखों को पसन्द करते थे और दाक्षिणात्य लोग छोटे नखों को। अपनी-अपनी रुचि है, देश की भी और काल की भी! लेकिन समस्त अधोगामिनी वृत्तियों को और नीचे खींचनेवाली वस्तुओं को भारतवर्ष ने मनुष्योचित बनाया है, यह बात चाहूँ भी तो भूल नहीं सकता।

मानव शरीर को अध्ययन करनेवाले प्राणि-विज्ञानियों का निश्चित मत है कि मानव-चित्त की भाँति मानव-शरीर में भी बहुत-सी अभ्यास-जन्य सहज वृत्तियाँ रह गयी हैं। दीर्घकालतक उनकी आवश्यकता रही है। अतएव शरीर ने अपने भीतर एक ऐसा गुण पैदा कर लिया है कि वे वृत्तियाँ अनायास ही, और शरीर के अनजान में भी अपने-आप काम करती हैं। नाखून का बढ़ना उनमें से एक है, केश का बढ़ना दूसरा है, दाँत का दुबारा उठना तीसरा है, पलकों का गिरना चौथा है। और असल में सहजात वृत्तियाँ अनजान की स्मृतियों को ही कहते हैं। हमारी भाषा में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। अगर आदमी अपने शरीर की, मन की और वाक् की अनायास घटनेवाली वृत्तियों के विषय में विचार करे, तो उसे अपनी वास्तविक प्रवृत्ति पहचानने में बहुत सहायता मिले। पर कौन सोचता है? सोचता तो क्या उसे इतना भी पता नहीं चलता कि उसके भीतर नख बढ़ा लेने की जो सहजात वृत्ति है, वह उसके पशुत्व का प्रमाण है। उन्हें काटने की जो प्रवृत्ति है, वह उसकी मनुष्यता की निशानी है और यद्यपि पशुत्व के चिह्न उसके भीतर रह गये हैं, पर वह पशुत्व को छोड़ चुका है। पशु बनकर वह आगे नहीं बढ़ सकता। उसे कोई और रास्ता खोजना चाहिए। अस्त्र बढ़ाने की प्रवृत्ति मनुष्यता की विरोधिनी है।

मेरा मन पूछता है—किस ओर ? मनुष्य किस ओर बढ़ रहा है ? पशुता की ओर या मनुष्यता की ओर ? अस्त्र बढ़ाने की ओर या अस्त्र काटने की ओर। मेरी निर्बोध बालिका ने मानो मनुष्यजाति से ही प्रश्न किया है—जानते हो, नाखून क्यों बढ़ते हैं ? यह हमारी पशुता के अवशेष हैं। मैं भी पूछता हूँ—जानते हो, ये अस्त्र-शस्त्र क्यों बढ़ रहे हैं ?—ये हमारी पशुता की निशानी हैं। भारतीय भाषाओं में प्रायः ही अंगरेजी के 'इरिडपेरडेन्स' शब्द का समानार्थक शब्द नहीं व्यवहृत होता। १५ अगस्त को जब अँगरेजी भाषा के पत्र 'इरिडपेण्डेन्स' की घोषणा कर रहे थे, देशी भाषा के पत्र 'स्वाधीनता-दिवस' की चर्चा कर रहे थे। 'इरिडपे-एडेन्स' का अर्थ है अनधीनता या किसी की अधीनता का अभाव, पर 'स्वाधीनता' शब्द का अर्थ है अपने ही अधीन रहना। अँगरेजी में कहना हो, तो 'सेल्फ़ डिपेरडेन्स' कह सकते हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि इतने दिनों तक अँगरेजी की अनुवर्तिता करने के बाद भी भारतवर्ष 'इण्डिपेण्डेन्स' को अनधीनता क्यों नहीं कह सका ? उसने अपनी आजादी के जितने भी नामकरण किये—स्वतन्त्रता, स्वराज्य, स्वाधीनता—उन सब में 'स्व' का बन्धन अवश्य रखा। यह क्या संयोग की बात है या हमारी समूची परम्परा ही अनजान में, हमारी भाषा के द्वारा प्रकट होती रही है ? मुझे प्राणि-विज्ञानी की बात फिर याद आती है—सहजात वृत्ति अनजानी स्मृतियों का ही नाम है। स्वराज होने के बाद स्वभावतः ही हमारे नेता और विचारशील नागरिक सोचने लगे हैं कि इस देश को सच्चे अर्थ में सुखी कैसे बनाया जाय। हमारे देश के लोग पहली बार यह सब सोचने लगे हों, ऐसी बात नहीं है। हमारा इतिहास बहुत पुराना है, हमारे शास्त्रों में इस समस्या को नाना भावों और नाना पहलुओं से विचारा गया है। हम कोई नौसिखुए नहीं हैं, जो रातों-रात अनजान जङ्गल में पहुँचाकर अरक्षित छोड़ दिये गये हों। हमारी परम्परा महिमामयी, उत्तराधिकार विपुल और संस्कार उज्ज्वल हैं ! हमारे अनजान में भी ये बातें हमें एक खास दिशा में सोचने की प्रेरणा देती हैं। यह

जरूर है कि परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। उपकरण नये हो गये हैं और उलझनों की मात्रा भी बहुत बढ़ गई है, पर मूल समस्याएँ बहुत अधिक नहीं बदली हैं। भारतीय चित्त जो आज भी 'अनधीनता' के रूप में न सोचकर 'स्वाधीनता' के रूप में सोचता है, वह हमारे दीर्घकालीन संस्कारों का फल है। वह 'स्व' के बन्धन को आसानी से नहीं छोड़ सकता। अपने-आप पर अपने-आपके द्वारा लगाया हुआ बन्धन हमारी संस्कृति की बड़ी भारी विशेषता है। मैं ऐसा तो नहीं मानता कि जो कुछ हमारा पुराना है, जो-कुछ हमारा विशेष है, उससे हम चिपटे ही रहें। पुराने का 'मोह' सब समय वाञ्छनीय ही नहीं होता। मरे बच्चे को गोद में दबाये रहनेवाली 'बँदरिया' मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती। परन्तु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नयी अनुसन्धित्सा के नशे में चूर होकर अपना सरबस खो दें। कालिदास ने कहा था कि सब पुराने अच्छे ही नहीं होते, सब नये खराब ही नहीं होते। भले लोग दोनों की जाँच कर लेते हैं; जो हितकर होता है उसे ग्रहण करते हैं, और मूढ़ लोग दूसरों के इशारे पर भटकते रहते हैं। सो हमें परीक्षा करके हितकर बात सोच लेनी होगी और अगर हमारे पूर्वसञ्चित भाण्डार में वह हितकर वस्तु निकल आवे, तो इससे बढ़कर और क्या हो सकता है?

जातियाँ इस देश में अनेक आयी हैं। लड़ती-झगड़ती भी रही हैं, फिर प्रेमपूर्वक बस भी गयी हैं। सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी और नाना ओर मुख करके चलनेवाली इन जातियों के लिये एक सामान्य धर्म खोज निकालना कोई सहज बात नहीं थी। भारतवर्ष के ऋषियों ने अनेक प्रकार से अनेक ओर से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी। पर एक बात उन्होंने लक्ष्य की थी। समस्त वर्णों और समस्त जातियों का एक सामान्य आदर्श भी है। वह है अपने ही बन्धनों से अपने को बाँधना। मनुष्य पशु से किस बात में भिन्न है? आहार-निद्रा आदि पशु-सुलभ स्वभाव उसके ठीक वैसे ही हैं, जैसे अन्य प्राणियों के। लेकिन वह फिर भी पशु से भिन्न है। उसमें संयम है, दूसरे के सुख-दुःख के प्रति समवेदना है,

श्रद्धा है, तप है, त्याग है। यह मनुष्य के स्वयं के उद्भावित बन्धन हैं। इसीलिये मनुष्य झगड़े-टंटे को अपना आदर्श नहीं मानता, गुस्से में आकर चढ़ दौड़नेवाले अविवेकी को बुरा समझता है और वचन, मन और शरीर से किये गये असत्याचरण को गलत आचरण मानता है। यह किसी खास जाति या वर्ण या समुदाय का धर्म नहीं है। यह मनुष्य-मात्र का धर्म है। महाभारत में इसीलिये निर्वैर भाव, सत्य और अक्रोध को सब वर्णों का सामान्य धर्म कहा है :—

एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत।
निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध एव च॥

अन्यत्र इसमें निरन्तर दानशीलता को भी गिनाया गया है (अनुशासन १२०,१०)। गौतम ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य की मनुष्यता यही है कि वह सबके दुख-सुख को सहानुभूति के साथ देखता है। यह आत्म-निर्मित बन्धन ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अहिंसा, सत्य और अक्रोध-मूलक धर्म का मूल उत्स यही है। मुझे आश्चर्य होता है कि अनजान में भी हमारी भाषा में यह भाव कैसे रह गया है। लेकिन मुझे नाखून के बढ़ने पर आश्चर्य हुआ था। अज्ञान सर्वत्र आदमी को पछाड़ता है। और आदमी है कि सदा उससे लोहा लेने को कमर कसे है।

मनुष्य को सुख कैसे मिलेगा? बड़े-बड़े नेता कहते हैं, वस्तुओं की कमी है, और मशीन बैठाओ, और उत्पादन बढ़ाओ, और धन की वृद्धि करो, और बाह्य उपकरणों की ताकत बढ़ाओ। एक बूढ़ा था। उसने कहा था—बाहर नहीं, भीतर की ओर देखो। हिंसा को मन से दूर करो, मिथ्या को हटाओ, क्रोध और द्वेष को दूर करो, लोक के लिये कष्ट सहो। आराम की बात मत सोचो, प्रेम की बात सोचो; आत्म-पोषण की बात सोचो, काम करने की बात सोचो। उसने कहा—प्रेम ही बड़ी चीज़ है, क्योंकि वह हमारे भीतर है। उच्छृङ्खलता पशु की प्रवृत्ति है, 'स्व' का बन्धन मनुष्य का स्वभाव है। बूढ़े की बात अच्छी लगी या नहीं, पता नहीं। उसे गोली मार दी गई। आदमी के नाखून बढ़ने की प्रवृत्ति

ही हावी हुई। मैं हैरान होकर सोचता हूँ—बूढ़े ने कितनी गहराई में पैठकर मनुष्य की वास्तविक चरितार्थता का पता लगाया था।

ऐसा कोई दिन आ सकता है, जब कि मनुष्य के नाखूनों का बढ़ना बन्द हो जायगा। प्राणिशास्त्रियों का ऐसा अनुमान है कि मनुष्य का अनावश्यक अंग उसी प्रकार झड़ जायगा, जिस प्रकार उसकी पूँछ झड़ गई है। उस दिन मनुष्य की पशुता भी लुप्त हो जायगी। शायद उस दिन वह मरणास्त्रों का प्रयोग भी बन्द कर देगा। तब तक इस बात से छोटे बच्चों को परिचित करा देना वांछनीय जान पड़ता है कि नाखून का बढ़ना मनुष्य के भीतर की पशुता की निशानी है और उसे नहीं बढ़ने देना मनुष्य की अपनी इच्छा है, अपना आदर्श है। बृहत्तर जीवन में अस्त्र-शस्त्रों का बढ़ने देना मनुष्य की पशुता की निशानी है और उनकी बाढ़ को रोकना मनुष्यत्व का तक़ाज़ा है। मनुष्यों में जो घृणा है, जो अनायास—बिना सिखाए—आ जाती है, वह पशुत्व का द्योतक है और अपने को संयत रखना, दूसरे के मनोभावों का आदर करना मनुष्य का स्वधर्म है। बच्चे यह जानें तो अच्छा हो कि अभ्यास और तप से प्राप्त वस्तुएँ मनुष्य की महिमा को सूचित करती हैं।

सफलता और चरितार्थता में अन्तर है। मनुष्य मरणास्त्रों के संचयन से, बाह्य उपकरणोंके बाहुल्य से उस वस्तु को पा भी सकता है, जिसे उसने बड़े आडम्बर के साथ सफलता नाम दे रखा है। परन्तु मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सबके मंगल के लिए निःशेष भाव से दे देने में है। नाखूनों का बढ़ना मनुष्य की उस अन्ध सहजात वृत्ति का परिणाम है जो उसके जीवन में सफलता ले आना चाहती है, उसको काट देना उस 'स्व'—निर्धारित आत्म-बन्धन का फल है, जो उसे चरितार्थता की ओर ले जाती है।

कम्बख्त नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें, मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा।

---

# रघुवीर सिंह

महाराजकुमार डाक्टर रघुवीर सिंह सीतामऊ (मालवा) राजवंश के एक ज्योतिर्मय नक्षत्र हैं। मध्ययुगीन भारत के दीप्तिप्रभ इतिहास का आपने गंभीर अध्ययन किया है और 'पूर्वमध्यकालीन भारत' पर विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध लिखकर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की है। ऐतिहासिक अन्वेषण शक्ति के साथ ही साथ आपको एक कवि की भावुकता एवं चित्र-विधायिनी कल्पना भी मिली है जिसकी सफल अभिव्यक्ति ने साहित्य-क्षेत्र में भी आपके लिए एक सम्माननीय स्थान सुरक्षित कर लिया है। मुग़ल कालीन वैभव-विलास के स्मारक आगरा, सीकरी, दिल्ली आदि की इमारतों से प्रेरणा पा आपने एक नितान्त नूतन कल्पना प्रधान शैली में कुछ निबन्ध लिखे हैं जो 'शेष स्मृतियाँ' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हुए। आचार्यप्रवर पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने इस ग्रन्थ की भूमिका में उसके साहित्यिक मूलों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। 'बिखरे फूल' और 'सप्तद्वीप' में इसी प्रकार के भावना-प्रधान निबन्ध हैं।

डाक्टर रघुवीर सिंह की एक अपनी शैली है जो भावनाओं से स्पन्दित, कल्पनाओं से अनुरंजित किन्तु विवेक से व्यवस्थित है। वर्त्तमान अवशेषों एवं ऐतिहासिक तथ्यों का सहारा लेकर उनकी कल्पना अतीत को भी सजीवता एवं साकारता प्रदान करती है। इसकी सिद्धि के लिए उन्होंने भाषा की लाक्षणिक शक्ति एवं अलंकारों का भरपूर प्रयोग किया है। इन लाक्षणिक प्रयोगों एवं उपमान-योजनाओं में ऐसी उपयुक्तता तथा नूतनता रहती है जिसका विशेष रंजनकारी प्रभाव पड़ता है। वर्णन-प्रणाली से ही अवसाद, हर्षोल्लास एवं निर्वेद आदि भावनाओं की यथावसर व्यंजना होती रहती है। वाक्यों का संगठन भी किसी हदतक भावनाश्रित ही होता है। कहीं कुछ दूर तक सुसम्बद्धता एवं

प्रवाह है, कहीं वाक्य उखड़े उखड़े से लगते हैं। कहीं सब कुछ कह डाला गया है, कहीं बहुत कुछ अनभिव्यंजित रह गया है। जैसे भावावेग में वाणी एक सी गई हो। कहीं किसी शब्द की आवृत्ति है, कहीं वाक्यों का विपर्यय; कहीं उक्ति वैचित्र्य है, कहीं विदग्धता। वातावरण को सजीव करने में शैली नितान्त सफल रही है।

प्रस्तुत पाठ 'शेष स्मृतियाँ' के पाँच निबन्धों में से एक है। आरम्भ में कुछ दूर तक तो विचार-प्रधान शैली में जीवन एवं जगत की अनित्यता तथा मानव-स्वभाव पर प्रकाश डाला गया है। आगे चलकर भाव-प्रधान शैली में विश्वविश्रुत प्रेमी शाहजहाँ एवं मुमताज महल के अन्तिम संभाषण, प्रियाविरह से सम्राट की कातरता एवं प्रेम को ताज के रूप में अमर कर देने के प्रयासों का सजीव चित्रण किया गया है। ताज स्वयं ही एक काव्य है।

---

# ताज

मनुष्य को स्वयं पर गर्व है। वह स्वयं को जगदीश्वर की अत्युत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ कृति समझता है। वह अपने व्यक्तित्व को चिरस्थायी बनाया चाहता है। मनुष्य-जाति का इतिहास क्या है? उसके सारे प्रयत्नों का केवल एक ही उद्देश्य है। चिरकाल से मनुष्य यही प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार वह उस अप्राप्य अमृत को प्राप्त करे, जिसे पीकर वह अमर हो जाय। किन्तु अभी तक उस अमृत का पता नहीं लगा। यही कारण है कि जब मनुष्य को प्रतिदिन निकटतम आती हुई रहस्यपूर्ण मृत्यु की याद आ जाती है, तब उसका हृदय बेचैनी के मारे तड़पने लगता है। भविष्य में आनेवाले अपने अन्त के तथा उसके अनन्तर अपने व्यक्तित्व के ही नहीं, अपने सर्वस्व के, विनिष्ट होने के विचारमात्र से ही मनुष्य का सारा शरीर सिहर उठता है। वह चाहता है कि किसी भी प्रकार इस अप्रिय कठोर सत्य को वह भूल जाय, और उसे ही भुलाने के लिए, अपनी स्मृति से, अपने मस्तिष्क से उसे निकाल बाहर करने ही को कई बार मनुष्य सुख-सागर में मग्न होने की चेष्टा करता है। कई व्यक्तियों का हृदय तो इस विचार मात्र से ही विकल हो उठता है कि समय के उस भयानक प्रवाह में वे स्वयं ही नहीं, किन्तु उनकी समग्र वस्तुएँ, स्मृतियाँ, स्मृति-चिह्न आदि सब कुछ बह जायँगे; इस संसार में तब उनके सांसारिक जीवन का चिन्ह मात्र भी न रहेगा और उनको याद करनेवाला भी कोई न मिलेगा। ऐसे मनुष्य इस भौतिक संसार में अपनी स्मृतियाँ, अमिट स्मृतियाँ छोड़ जाने कोवि कल हो उठते हैं। वे जानते हैं कि उनका अन्त अवश्यम्भावी है, किन्तु सोचते हैं कि सम्भव है उनकी स्मृतियाँ संसार में रह जायँ। पिरेमिड, स्फिंक, बड़े-बड़े मकबरे, कीर्तिस्तम्भ, कीलियाँ, विजय-द्वार, विजय-तोरण आदि कृतियाँ मनुष्य की इसी इच्छा के फल हैं। एक तरह से देखा जाय तो इतिहास भी अपनी

स्मृति को चिरस्थायी बनाने की मानवीय इच्छा का एक प्रयत्न है। यों अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये मनुष्य ने भिन्न-भिन्न प्रयत्न किये—किसी ने एक मार्ग का अवलम्बन किया, किसी ने दूसरी राह पकड़ी। कई एक विफल हुए; अनेकों के ऐसे प्रयत्नों का आज मानव-समाज की स्मृति पर चिह्न तक विद्यमान नहीं है। बहुतों के तो ऐसे प्रयत्नों के खण्डहर आज भी संसार में यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। वे आज भी मूक भाव से मनुष्य की इस इच्छा को देखकर हँसते हैं और साथ ही रोते भी हैं। मनुष्य की विफलता पर तथा अपनी दुर्दशा पर वे आँसू गिराते हैं। परन्तु यह देखकर अभी तक मनुष्य अपनी विफलता का अनुभव नहीं कर पाया, अभी तक उसकी वही इच्छा, उसकी वही दुराशा उसका पीछा नहीं छोड़ती है, मनुष्य अभी तक उन्हीं के चंगुल में फँसा हुआ है, वे मूकभाव से मनुष्य की इस अद्भुत मृगतृष्णा पर विक्षिप्त कर देनेवाला अट्टहास करते हैं!

परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क विधाता की एक अद्वितीय कृति है। यद्यपि समय के सामने किसी की भी नहीं चलती, तथापि कई मस्तिष्कों ने ऐसी खूबी से काम किया, उन्होंने ऐसी चालें चलीं कि समय के इस प्रलयंकारी भीषण प्रवाह को भी बाँधने में समर्थ हुए। उन्होंने काल को सौन्दर्य के अदृश्य किन्तु अचूक पाश में बाँधा है, उसे अपनी कृतियों की अनोखी छटा दिखाकर लुभाया है, यों उसे भुलावा देकर कई बार मनुष्य अपनी स्मृति के ही नहीं, किन्तु अपने भावों के स्मारकों को भी चिरस्थायी बना सका है। ताजमहल भी मानव-मस्तिष्क की ऐसी ही अद्वितीय सफलता का एक अद्भुत उदाहरण है। किन्तु सौन्दर्य का वह अचूक पाश········ समय के साथ मनुष्य भी उसमें बँध जाता है, समय का प्रलयंकारी प्रवाह रुक जाता है, किन्तु मनुष्य के आँसुओं का सागर उमड़ पड़ता है, समय स्तब्ध होकर अब भी उस समाधि को ताक रहा है। सूरज निकलता और अस्त हो जाता है, चाँद घटता और बढ़ता है किन्तु ताज की वह नव-नूतनता आज भी विद्यमान है, शताब्दियों से बहनेवाले आँसू ही उस सुन्दर समाधि को धो-धोकर उसे उज्ज्वल बनाये रखते हैं।

वह अंधकारमयी रात्रि थी। सारे विश्व पर घोर अंधकार छाया हुआ था, तो भी जग सोया न था। संसार का ताज, भारतीय साम्राज्य का वह जगमगाता हुआ सितारा, भारत-सम्राट् के हृदय-कुमुद का वह समुज्ज्वल चाँद आज सर्वदा के लिए अस्त होने को था। शिशु को जन्म देने में माता की जान पर आ बनी थी। स्नेह और जीवन की अन्तिम घड़ियाँ थीं; उन सुखमय दिनों का, प्रेम तथा आह्लाद से पूर्ण छलकते हुए उस जीवन का अब अन्त होनेवाला था। संसार कितना अचिरस्थायी है।

वह टिमटिमाता हुआ दीपक, भारत सम्राट् के स्नेह का वह जलता हुआ चिराग बुझ रहा था। अब भी बहुत स्नेह था, किन्तु अकाल काल का झोंका आया, वह झिलमिलाती हुई लौ उसे सहन नहीं कर सकी! धीरे-धीरे प्रकाश कम हो रहा था, दुर्दिन की काली घटाएँ उस रात्रि के अन्धकार को अधिक कालिमामय बना रहीं थीं, आशा-प्रकाश की अन्तिम ज्योति-रेखाएँ निराशा के उस अन्धकार में विलीन हो रही थीं। और तब सब अँधेरा ही अँधेरा था।

इस सांसारिक जीवन-यात्रा की अपनी सहचरी, प्राणप्रिया से अन्तिम भेंट करने शाहजहाँ आया। जीवन-दीपक बुझ रहा था, फिर भी अपने प्रेमी को अपने जीवन-सर्वस्व को देखकर पुनः एक बार लौ बढ़ी, बुझने से पहिले की ज्योति हुई, मुमताज के नेत्र खुले। अन्तिम मिलाप था। उन अन्तिम घड़ियों में, उन आँखों द्वारा क्या-क्या मौनालाप हुआ होगा, उन प्रेमियों के हृदयों में कितनी उथल-पुथल मची होगी, उसका कौन वर्णन कर सकता है? प्रेमाग्नि से धधकते हुए उन हृदयों की वे बातें लेखक की यह कठोर लेखनी काली स्याही से पुते हुए मुँह से नहीं लिख सकती।

अन्तिम क्षण थे, सर्वदा के लिए वियोग हो रहा था; देखती आँखों शाहजहाँ का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारत सम्राट् हताश हाथ पर हाथ धरे बेबस बैठा अपनी किस्मत को रो रहा था। सिंहासनारूढ़ हुए कोई तीन वर्ष भी नहीं बीते थे कि उसकी प्रियतमा इस लोक से विदा लेने की

तैयारी कर रही थी। शाहजहाँ की समस्त आशाओं पर, उसकी सारी उमंगों पर पाला पड़ रहा था। क्या-क्या उम्मीदें थीं, क्या-क्या अरमान थे जब समय आया, उनके पूर्ण होने की आशा थी, तभी शाहजहाँ को उसकी जीवन-संगिनी ने छोड़ दिया, ज्योंही सुख-मदिरा ओठों को लगाया कि वह प्याला अनजाने गिर पड़ा, चूर-चूर हो गया और वह सुख-मदिरा मिट्टी में मिल गई, पृथ्वीतल में समा गई, सर्वदा के लिए अदृश्य हो गई।

हाय! अन्त हो गया, सर्वस्व लुट गया। परमप्रेमी, जीवन-यात्रा का एक मात्र साथी सर्वदा के लिये छोड़कर चल बसा। भारत-सम्राट् शाहजहाँ की प्रेयसी, सम्राज्ञी मुमताजमहल सदा के लिये इस लोक से विदा हो गई। शाहजहाँ भारत का सम्राट् था, जहान का शाह था, परन्तु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से नहीं रोक सका। दार्शनिक कहते हैं, जीवन एक बुदबुदा है, भ्रमण करती हुई आत्मा के ठहरने की एक धर्मशाला मात्र है। वे यह भी बताते हैं कि इस जीवन का संग तथा वियोग क्या है—एक प्रवाह में संयोग से साथ बहते हुए लकड़ी के टुकड़ों के साथ तथा विलग होने की कथा है। परन्तु क्या ये विचार संतप्त हृदय को शान्त कर सकते हैं? क्या ये भावनायें चिरकाल की विरहाग्नि में जलते हुए हृदय को सान्त्वना प्रदान कर सकती हैं? सांसारिक जीवन की व्यथाओं से दूर बैठा हुआ जीवन-संग्राम का एक तटस्थ दर्शक चाहे कुछ भी कहे, परन्तु जीवन के इस भीषण संग्राम में युद्ध करते हुए सांसारिक घटनाओं के घोर थपेड़े खाते हुए हृदयों की क्या दशा होती है, यह एक भुक्तभोगी ही बता सकता है।

वह चली गई, सर्वदा के लिये चली गई। अपने रोते हुए प्रेमी को, अपने जीवनसर्वस्व को, अपने बिलखते हुए प्यारे बच्चों को तथा समस्त दुखी संसार को छोड़कर उस अँधियारी रात में न जाने वह कहाँ चली गई। शाहजहाँ की आँख से एक आँसू ढलका, उस संतप्त हृदय से एक आह निकली।

वह सुन्दर शरीर पृथ्वी की भेंट हो गई; यदि कुछ शेष था तो उसकी वह सुखप्रद स्मृति, तथा उसकी स्मृति पर उसके उस चिरवियोग पर

आहें, निश्वासें और आँसू। संसार लुट गया और उसे पता भी न लगा। संसार की वह सुन्दर मूर्त्ति मृत्यु के अदृश्य क्रूर हाथों चूर्ण हो गई; और उस मूर्ति के वे निर्जीव अवशेष!...जगन्माता पृथ्वी ने उन्हें अपने अंचल में समेट लिया।

शाहजहाँ के वे आँसू तथा वे आहें विफल न हुईं। उन तृप्त आँखों तथा उस धधकते हुए हृदय से निकलकर वे इस बाह्य जगत् में आये थे वे भी समय के साथ सर्द होने लगे। समय के ठंडे झोंकों की थपकियाँ खा कर उन्होंने एक ऐसा सुन्दर स्वरूप धारण किया कि आज भी उन्हें देखकर न जाने कितने आँसू ढलक पड़ते हैं और न जाने कितने हृदयों में हलचल मच जाती है। अपनी प्रेयसी के वियोग पर बहाये गये शाहजहाँ के वे आँसू चिरस्थायी हो गये।

सब कुछ समाप्त हो गया था, किन्तु अब भी आशा शेष रही थी। शाहजहाँ का सर्वस्व लुट गया था, तो भी उस स्तब्ध रात्रि में अपनी प्रियतमा के प्रति; उस अन्तिम भेंट के समय किये गये प्रण को वह न भूला था। उसने सोचा कि अपनी प्रेयसी की यादगार में भारत के ही नहीं संसार के उस मकबरे का ताज हो। शाहजहाँ को सूझी कि अपनी प्रेयसी की स्मृति को तथा उसके प्रति अपने अगाध विशुद्ध प्रेम को स्वच्छ श्वेत स्फटिक के सुचारु स्वरूप में व्यक्त करे।

धीरे-धीरे भारत की उस पवित्र महानदी यमुना के तटपर एक मकबरा बनने लगा। पहले लाल पत्थर का एक चबूतरा बनाया गया, उसपर सफेद संगमरमर का ऊँचा चौतरा निर्माण किया गया, जिसके चारों कोनों पर चार मीनार बनाये गये जो बेतार के तार से चारों दिशाओं में उस सम्राज्ञी की मृत्यु का समाचार सुना रहे हैं और साथ ही उसका यशोगान भी कर रहे हैं। मध्य में शनैः शनैः मकबरा उठा। यह मकबरा भी उस श्वेत वर्णवाली सम्राज्ञी के समान श्वेत तथा उसी के समान सौन्दर्य में अनुपम तथा अद्वितीय है। अन्त में उस भव्य मकबरे को एक अतीव सुन्दर सुडौल महान् गुम्बज का ताज पहनाया गया।

पाठको! उस सुन्दर मकबरे का वर्णन पार्थिव जिह्वा भी नहीं कर

सकती। फिर इस बेचारी जड़ लेखनी का क्या? अनेक शताब्दियाँ बीत गईं, भारत में अनेकानेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ। भारत की वह सुन्दर कला तथा उस महान् समाधि के वे अज्ञात निर्माणकर्ता भी समय के अनन्त गर्भ में न जाने कहाँ विलीन हो गये, परन्तु आज भी वह मक़बरा खड़ा हुआ अपने सौन्दर्य के संसार को लुभा रहा है। समय तो उसके पास फटकने भी नहीं पाता कि उसकी नूतनता को हर सके; और मनुष्य...बेचारा मर्त्य, वह तो उस मक़बरे के तले बैठा सिर धुनता रहा है। यह मक़बराशाहजहाँ की उस महान् साधना का, अपनी प्रेमिका के प्रति उस अनन्य तथा अगाध प्रेम का फल है। वह कितना सुन्दर है? वह कितना करुणोत्पादक है? आँखें ही उसकी सुन्दरता को देख सकती हैं, हृदय ही उसकी अनुपम सुकोमल करुणा का अनुभव कर सकता है। संसार उसकी सुन्दरता को देखकर स्तब्ध है, सुखी मानव जीवन के इस करुणाजनक अन्त को देखकर क्षुब्ध है। शाहजहाँ ने अपनी मृता प्रियतमा की समाधि पर अपने प्रेम की अंजलि अर्पण की, तथा भारत ने अपने महान् शिल्पकारों और चतुर कारीगरों के हाथों शुद्ध प्रेम की उस अनुपम और अद्वितीय समाधि को निर्माण करवाकर पवित्र प्रेम की वेदी पर जो अपूर्व श्रद्धांजलि अर्पित की उसका सानी इस भूतल पर खोजे नहीं मिलता।

बरसों के परिश्रम के बाद अन्त में मुमताज़ का वह मक़बरा पूर्ण हुआ। शाहजहाँ की वर्षों की साध पूरी हुई। एक महान् यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। इस मक़बरे के पूरे होने पर जब शाहजहाँ बड़े समारोह के साथ उसे देखने गया होगा, आगरे के लिए वह दिन कितना गौरवपूर्ण हुआ होगा। उस दिन का—भारत की ही नहीं, संसार की शिल्प-कला के इतिहास के उस महान् दिवस का—वर्णन इतिहासकारों ने कहीं भी नहीं किया है। कितने सहस्र नर-नारी आबाल-वृद्ध उस दिन उस अपूर्व मक़बरे के—संसार की उस महान् अनुपम कृति के—दर्शनार्थ एकत्रित हुए होंगे? उस दिन मक़बरे को देखकर भिन्न भिन्न दर्शकों के हृदयों में कितने विभिन्न भाव उत्पन्न हुए होंगे? किसी को इस महान् कृति की पूर्ति पर हर्ष हुआ होगा, किसी ने

यह देखकर गौरव का अनुभव किया होगा कि उनके देश में एक ऐसी वस्तु का निर्माण हुआ है जिसकी तुलना करने के लिये संसार में कदाचित् ही कोई दूसरी वस्तु मिले; कई एक उस मक़बरे की छवि को देखकर मुग्ध हुए होंगे ; न जाने कितने ही चित्रकार उस सुंदर कृति को अंकित करने के लिए चित्रपट, रंग की प्यालियाँ और तूलिकाएँ लिये दौड़ पड़े होंगे ; न जाने कितने कवियों के मस्तिष्क में कैसी-कैसी अनोखी सूझें पैदा हुई होंगी।

परन्तु सब दर्शकों में से एक दर्शक ऐसा भी था जिसके हृदय में भिन्न भिन्न विपरीत भावों का घोर युद्ध भी हुआ था। दो आँखें ऐसी भी थीं, जो मक़बरे की उस वाह्य सुंदरता को चीरती हुई एकटक उस कब्र पर ठहरती थीं। वह दर्शक था शाहजहाँ, वे आँखें थीं मुमताज़ के प्रियतम की आँखें। जिस समय शाहजहाँ ने ताज के उस अद्वितीय दरवाजे पर खड़े होकर, उस समाधि को देखा होगा, उस समय उसके हृदय की क्या दशा हुई होगी, यह वर्णन करना अतीव कठिन है। उसके हृदय में शांति हुई होगी कि वह अपनी प्रियतमा के प्रति किये गये अपने प्रण को पूर्ण कर सका। उसको गौरव का अनुभव हो रहा होगा कि उसकी प्रियतमा की कब्र-अपनी जीवन-संगिनी की यादगार—ऐसी बनी कि उसका सानी शायद ही मिले। किन्तु उस जीवित मुमताज़ के स्थान पर—अपनी जीवनसंगिनी की हड्डियों पर यह कब्र—वह कब्र कैसी ही सुन्दर क्यों न हो—पाकर शाहजहाँ के हृदय में दहकती हुई चिर-वियोग की अग्नि क्या शान्त हुई होगी ? क्या श्वेत सर्द पत्थर का वह अनुपम मक़बरा मुमताज़ की मृत्यु के कारण हुई कमी को पूर्ण कर सकता था ? मक़बरे को देखकर शाहजहाँ की आँखों के सम्मुख, जब मुमताज के साथ वह सुख-पूर्वक रहता था, सिनेमा की फिल्म के समान दिखाई दिया होगा। प्रियतमा मुमताज़ की स्मृति पर पुनः आँसू ढलके होंगे, पुनः सुप्त स्मृतियाँ जग उठी होंगी और चोट खाये हुए हृदय के वे पुराने घाव फिर हरे हो गये होंगे।

पाठको ! जब आज भी कई एक दर्शक उस पवित्र समाधि को देखकर दो आँसू बहाये बिना नहीं रह सकते, तब आप ही स्वयं विचार कर

सकते हैं कि शाहजहाँ की क्या दशा हुई होगी। अपने जीवन में बहुत कुछ सुख प्राप्त हो चुका था, और रहे सहे सुख की प्राप्ति होने को थी, उस सुख-पूर्ण जीवन का मध्याह्न होने ही वाला था कि उस जीवन सूर्य को ग्रहण लग गया, और वह ऐसा लगा कि वह जीवन-सूर्य अस्त होने तक ग्रसित ही रहा। ताजमहल उस ग्रसित सूर्य से निकली हुई अद्भुत सुंदरतापूर्ण तेजोमयी रश्मियों का एक घनीभूत सुंदर पुंज है, उस ग्रसित सूर्य की एक अनोखी स्मृति है।

शताब्दियाँ बीत गयीं, शाहजहाँ कई बार उस ताजमहल को देखकर रोया होगा। मरते समय भी उस सुम्मन बुर्ज़ में शय्या पर पड़ा वह ताजमहल को देख रहा था। और आज भी न जाने कितने मनुष्य उस अद्वितीय समाधि के उद्यान में बैठे घंटों उसे निहारा करते हैं, और प्रेम-पूर्ण जीवन के नष्ट होने की स्मृति पर, अचिरस्थायी मानव जीवन की उस करुण कथा पर रोते हैं। न जाने कितने यात्री दूर दूर देशों से बड़े भयंकर समुद्र पार कर उस समाधि को देखने के लिये खिंचे चले आते हैं। कितनी उमंगों से वे आते हैं, परन्तु उसासें भरते हुए ही वे वहाँ से लौटते हैं। कितने हर्ष और उल्लास के साथ वे आते हैं, किन्तु दो बूँद आँसू बहाकर और हृदय पर दुःख का भार लिये ही वे वहाँ से निकलते हैं। प्रकृति भी प्रति वर्ष चार मास तक इस अद्वितीय प्रेम के भंग होने पर रोती है।

मनुष्य जीवन की, मनुष्य के दुःखपूर्ण जीवन की—जहाँ मनुष्य की कई वासनायें अतृप्त रह जाती हैं, जहाँ मनुष्य के प्रेम के बन्धन बँधने भी नहीं पाते कि काल के कराल हाथों पड़कर टूट जाते हैं—मनुष्य के उस करुण जीवन की स्मृति उसकी अतृप्त वासनाओं, अपूर्ण आकांक्षाओं, तथा खिलते हुए प्रेम-पुष्प की वह समाधि आज भी यमुना के तीर पर खड़ी है। शाहजहाँ का वह विस्तृत समाज, उसका वह अमूल्य तख्तताऊस, उसका वह अतीव महान् घराना, शाही ज़माने का चकाचौंध कर देनेवाला वह वैभव, आज सब कुछ विलीन हो गया—समय के कठोर झोंकों में पड़ कर वे सब आज विनष्ट हो चुके हैं। ताज़महल का भी वह वैभव, उसमें जड़े हुए

वे बहुमूल्य रत्न भी न जाने कहाँ चले गये; किन्तु आज भी ताजमहल अपनी सुंदरता से समय को लुभाकर उसे भुलावा दे रहा है, मनुष्य को क्षुब्ध कर उसे रुला रहा है, और यों मानव जीवन की उस करुणकथा को चिरस्थायी बनाये हुए है। वैभव से विहीन ताज का यह विधुर स्वरूप उसे अधिक सोहता है।

आज भी उन सफ़ेद पत्थरों से आवाज़ आती है—"मैं भूला नहीं हूँ।" आज भी उन पत्थरों में न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रतिवर्ष उस सुन्दर सम्राज्ञी की क़ब्र पर टपक पड़ती है; वे कठोर निर्जीव पत्थर भी प्रतिवर्ष उस सुंदर सम्राज्ञी की मृत्यु को याद कर, मनुष्य की उस करुण-कथा के इस दुःखान्त को देखकर पिघल जाते हैं और उन पत्थरों में से अनजाने एक आँसू ढलक पड़ता है। आज भी यमुना नदी की धारा समाधि को चूमती हुई भग्न मानव-जीवन की वह करुण-कथा अपने प्रेमी-सागर को सुनाने के लिये दौड़ पड़ती है। आज भी उस भग्न-हृदय की व्यथा को याद कर कभी-कभी यमुना नदी का हृदय-प्रदेश उमड़ पड़ता है और उसके वक्षःस्थल पर भी आँसुओं की बाढ़ आती है।

उन श्वेत पत्थरों में से आवाज़ आती है–"आज भी मुझे उसकी स्मृति है।" आज भी उस खिलते हुए प्रेम-पुष्प का सौरभ—उस प्रेम-पुष्प का, जो अकाल में ही डंठल से टूट पड़ा—उन पत्थरों में रम रहा है। वह स्खलित पुष्प सूख गया, उसका भौतिक स्वरूप इस लोक में रह गया, परन्तु उस सुन्दर पुष्प की आत्मा विलीन हो गयी, अनन्त में अन्तर्निहित हो गयी। अपने अनन्त के पथ पर अग्रसर होती हुई वह आत्मा उस स्खलित पुष्प को छोड़कर चली गयी; पत्थर की उस सुंदर किन्तु व्यक्त समाज में केवल उसकी स्मृति विद्यमान है। यों शाहजहाँ ने निराकार मृत्यु को अक्षय सौंदर्यपूर्ण स्वरूप प्रदान किया। मनुष्य के अचिरस्थायी प्रेम को प्रेमाग्नि की धधकती हुई ज्वाला को, स्नेह-दीपक की झिलमिलाती हुई उस उज्ज्वल लौ को, चिरस्थायी बनाया।

———

# श्री नगेन्द्र

डाक्टर नगेन्द्र हिन्दी के उदीयमान समीक्षक हैं। 'रीति-साहित्य और देव' पर खोजपूर्ण प्रवन्ध लिखकर आपने डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। साहित्य-क्षेत्र में नगेन्द्र जी कवि के रूप में 'वनमाला' नामक कविता-संग्रह लेकर आए किन्तु आपको ख्याति मिली आलोचक के रूप में। आपके प्रमुख आलोचना ग्रन्थ हैं—'सुमित्रानन्दन पंत', 'साकेत एक अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी नाटक' तथा 'विचार और अनुभूति'।

नगेन्द्र की समीक्षा-शैली उनके पाश्चात्य साहित्य-ज्ञान से प्रभावित है। कवि की सहृदयता एवं वैज्ञानिक की विश्लेषण-बुद्धि लेकर वे किसी कृति की परख करते हैं और उसकी अनेकपक्षीय विशेषताओं तक पहुँच-कर पाठकों को आन्तरिक सौन्दर्य का दर्शन कराते हैं। भाषा में गुरुता एवं गंभीरता के साथ ही साथ रोचकता भी है। समीक्षा के लिए उन्होंने अधिकतर संस्कृत पदावली का ही सहारा लिया है किन्तु शैली में सरलता बराबर बनी रहती है। वह सहज और सुबोध है। विषय-विवेचन का ढंग बड़ा सीधा-सादा एवं सुलझा हुआ है।

प्रस्तुत लेख नगेन्द्रजी के 'विचार और विवेचन' नामक ग्रन्थ से लिया गया है। इसमें प्रेमचन्द की प्रतिभा का एवं उनके महत्त्व का बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। लेखक के अनुसार प्रेमचन्द ने 'पिछले युग की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विषमताओं को जितना महत्त्व दिया था उतना महत्त्व उसकी आध्यात्मिक विषमताओं को नहीं दिया......जीवन के चिरंतन प्रश्नों को उन्होंने बड़े हल्के हाथों से छुआ है या छुआ ही नहीं है।"

---

# प्रेमचन्द

आज वर्षों बाद प्रेमचन्द के सर्वतः स्वीकृत श्रेष्ठतम उपन्यास 'गोदान' का एक बार फिर अध्ययन करने के उपरान्त भी मेरी धारणा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

प्रेमचन्द का सबसे प्रधान गुण है उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानव पक्ष अत्यन्त विकसित था। भारत के दीन,—दुखी जनता, गाँव के अपढ़ और भोले किसान और शहर के शोषित मजदूर, निम्नवर्ग के वे असंख्य श्रम-श्रांत वर्ग, और वर्ण-व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके विशेष स्नेह-भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्राणी भी—उच्च वर्ग के राजा, उद्योगपति, जमींदार और हुक्काम, उदार मध्यवर्ग के व्यवसायी, नौकरी पेशा लोग, समाज के पुराण-पंथी पण्डित-पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वंचित नहीं थे। इसका अर्थ यह नहीं कि उनको सत्-असत् की चेतना थी। नहीं, यह चेतना उनकी सर्वथा निर्भ्रांत थी और इस विषय में उनका दृष्टिकोण पूर्णतया निश्चित और स्थिर था। परन्तु उनके मन में घृणा नहीं थी। उनके मन में मानव के प्रति सहज आत्मीय भाव था। वे उसके पाप से अवगत थे। पाप का उन्होंने निर्भय होकर तिरस्कार किया। परन्तु पाप को छोड़ उन्होंने कभी पापी से घृणा नहीं की। इसके लिए गांधी और गांधी से भी अधिक स्वयं गांधी को प्रभावित करनेवाले विदेश के मानव-वादी लेखकों का प्रभाव काफी हदतक उत्तरदायी था, किन्तु मूलतः तो यह उनके अपने स्वभाव-संस्कार की विशेषता थी। यह व्यक्ति स्वभाव से ही सन्त था—उसके हृदय की सहानुभूति पर मानव का सहज अधिकार था। उस युग के आदर्शवाद ने जिसका मूल आधार था जनवाद, उनको निश्चय ही प्रभावित किया। परन्तु उनका यह आदर्शवाद अथवा जनवाद स्वभाव-जात था, युग-प्रथा-

मात्र नहीं था। इसका उनके संस्कारों के साथ पूर्ण सामञ्जस्य था। इसी-लिए इस धरातल पर पहुँचकर उनकी चेतना मानव के सभी भेदों से मुक्त हो जाती थी। प्रगतिवादियों ने अपने मानव मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उनपर वर्ग-चेतना का आरोप कर दिया। परन्तु वास्तव में वे इस दोष से सर्वथा मुक्त थे। उन्होंने पूँजीपतियों और जमींदारों के दोषों को क्षमा नहीं किया, किन्तु साथ ही उनकी तकलीफ के प्रति भी वे निर्मम नहीं थे। सामाजिक और आर्थिक आवरण के नीचे आखिर पूँजीवादी भी तो मनुष्य हैं, जो उसी तरह दुःख-दर्द का शिकार है जिस तरह मजदूर। राजनीतिक दलबन्दी में आकर अपने मन में इस तरह के खाने बना लेना कि उसके दुःख-दर्द का वहाँ प्रवेश ही न हो सर्वथा अप्रा-कृतिक और अमानवीय है, और जिसके हृदय में इस तरह का विभाजन सम्भव होता है, उनकी मानवता हार्दिक न होकर बौद्धिक होती है—या प्रदर्शन-मात्र। क्योंकि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सम्भव नहीं है कि एक की विवशता हमें करुणार्द्र करे और दूसरे की न करे। जिनकी सहानुभूति पर राजनीतिक बुद्धिवाद का अंकुश रहता है वे सहानुभूति का दम्भ करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द की सहानुभूति ऐसी नहीं थी। पापी को उन्होंने क्षमा नहीं किया, शोषण के अपराधों की उन्होंने कहीं भी उपेक्षा नहीं की। उनके उपन्यासों में दण्ड का निषेध नहीं है—उनमें एक ओर बहिष्कार से लेकर कारावास और मृत्यु तक और दूसरी ओर उपवास आदि से लेकर आत्मघात तक का दण्ड है। परन्तु सहानुभूति का अभाव किसी भी अवस्था में नहीं है। प्रेमचन्द कहीं भी कठोर नहीं होते और कहीं भी दम्भ नहीं करते यह उनके व्यक्तित्व की अपूर्व विजय थी।

इसी व्यापक सहानुभूति के कारण उनके साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। गांधी-युग के प्रथम तीन चरणों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक जीवन के सभी पहलुओं और समस्याओं का जितना सांगोपांग और सटीक चित्रण प्रेमचन्द में मिलता है वैसा हिन्दी के

किसी साहित्यकार में मिलता ही नहीं है भारत के अन्य किसी साहित्य-कार में भी मिलता है, इसमें सन्देह है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव की सीमायें होती हैं—जीवन के कुछ रूपों में वह रम सकता है कुछ में नहीं, परन्तु प्रेमचन्द की सहानुभूति इतनी व्यापक थी, उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपों के प्रति उनमें राग था। उनकी प्रतिभा कई अंशों में महाकाव्यकार की प्रतिभा थी। इसीलिये उन्हें जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपों के प्रति ममत्व था। विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द में मिलते हैं, उतने औरों में नहीं। आप हिन्दी के नये उपन्यासकारों—जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र से—उनकी तुलना कीजिए तो ओर विशाल जन-समुद्र है दूसरी ओर व्यक्तियों के सरोवर-मात्र। शरत्, यहाँ तक कि रवीन्द्र का भी क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यन्त सीमित है।

जीवन के इस समग्र-ग्रहण का परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द ने उपन्यासों में अपने युग अर्थात् गाँधी-युग के तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का अत्यन्त पूर्ण इतिहास दे दिया है। वास्तव में जिस समय में उत्तर भारत के इतिहास के इस काल-खंड का सामाजिक इतिहास लिखा जायेगा, उस समय प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक व्यवस्थित सामग्री अन्यत्र नहीं मिलेगी। और यदि इतिहासकार राजनीति से आतंकित होकर विवेक न खो बैठा, तो वह उन्हें भी पट्टाभि के इतिहास और नेहरू और राजेन्द्रबाबू की जीवनियों से कम महत्त्व नहीं देगा। इसके मूलतः दो कारण हैं—एक तो यह कि प्रेमचन्द ने अत्यन्त सचेत होकर अपने साहित्य को युग-जीवन का माध्यम बनाया है, दूसरे यह कि युग-धर्म के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वांग जीवन को ग्रहण किया है।

प्रेमचन्द का दूसरा प्रमुख गुण है उनका अत्यन्त स्वस्थ और साधारण व्यक्तित्व। साधारण का प्रयोग मैं यहाँ "नार्मल" के अर्थ में कर रहा

हूँ। उनका दृष्टिकोण मनोग्रंथियों से रहित सर्वथा ऋजु-सरल था उसमें प्रवृत्तियों का स्वस्थ संतुलन और अतिचार एवं अविचार का अभाव था। मनोग्रंथि से अभिप्राय उस मनोवैज्ञानिक स्थिति से है जो उचित रीति से विचार करने, उचित रीति से अनुभव करने और उचित रीति से जीवन-यापन करने में बाधक होती है। ये मनोग्रंथियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं—अर्थ-मूलक और काम-मूलक। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओं का प्रभुत्व है। गत युद्ध के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में आर्थिक विषमताओं के जितने भी रूप संभव थे, प्रेमचन्द की दृष्टि उन सभी पर पड़ी और उन्होंने अपने ढंग से उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया है। परन्तु उन्होंने अर्थ-वैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रंथि नहीं बनने दिया। वह एक समस्या है जिसका समाधान भी उपस्थित है। उनके पात्र आर्थिक विषमताओं से पीड़ित हैं परन्तु वे बहिर्मुखी संघर्ष द्वारा उनपर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। मानसिक कुण्ठाओं के शिकार बनकर नहीं रह जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके स्रष्टा का दृष्टिकोण विवेकप्रधान है। वे अनुभव-ज्ञान कभी नहीं खोते; समस्या का समाधान उसे समझ-सुलझाकर उसके मूल कारणों को दूर करने से होगा। उसके द्वारा अभिभूत हो जाने से नहीं। यह सुस्थिर विवेक और उसका आश्रयी अनुपात-ज्ञान प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का विशेष गुण है। वह किसी भी परिस्थिति में उनका साथ नहीं छोड़ता और इसी कारण प्रेमचन्द में किसी रूप में अतिवाद नहीं मिलता। गांधी-दर्शन में आस्था रखते हुए भी उन्होंने कहीं भी उसके प्रति अनावश्यक, विवेकहीन उत्साह नहीं दिखाया है। गांधी-दर्शन के अहिंसा-सम्बन्धी अतिवादों को प्रेमचन्द ने सदैव अपनी यथार्थ-दृष्टि द्वारा अनुशासित रखा है। और उसकी आध्यात्मिकता को ठोस भौतिक सिद्धान्तों द्वारा। उधर किसानों और मजदूरों के प्रति उनके हृदय में अगाध सहानुभूति है। वास्तव में शोषित-वर्ग का इतना बड़ा हिमायती हिन्दी में दूसरा नहीं है। परन्तु जमींदारों और पूँजीपतियों के प्रति भी यह कलाकार अपना संतुलन नहीं

खो बैठा—उनके दोषों पर तीखा प्रकाश डालते हुए भी वह उनके गुणों को सर्वथा नहीं भुला बैठा। किसानों और मजदूरों में अपने सामाजिक और राजनीतिक स्वत्वों के प्रति चेतना जगाने का प्रयत्न उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में किया है; परन्तु इस प्रयत्न के भावात्मक रूप को ही ग्रहण किया है; अभावात्मक रूप को नहीं। कहीं भी उन्होंने जमींदारों और किसानों के प्रति घृणा एवं प्रतिशोध के भाव को उभारना न्याय नहीं समझा। दूसरे शब्दों में वर्ग-संघर्ष नाम की वस्तु को एक मोहक रूप देकर उन्होंने कहीं भी स्वतंत्र महत्त्व नहीं दिया। संघर्ष जीवन का प्रबलतम साधन है। असत् को परास्त कर सत् की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना जीवन का ध्येय है। परन्तु वर्ग-संघर्ष को मानव के प्रति मानव के संघर्ष को—एक सर्वग्रासी सत्य मानकर उसको आकर्षक रंगों में चित्रित करना और फिर सम्पूर्ण जीवन को उसी रंग में रँगकर देखना एक घातक अतिवाद है; जिसको प्रेमचन्द ने सदा ही सतर्कता से बचाया है। उनके विवेक ने एकांगिता और अतिवाद से सदैव ही उनकी रक्षा की है।

जीवन की काम-मूलक ग्रंथियाँ कहीं अधिक विषम और सूक्ष्म गहन होती हैं। फ्रॉयड के सिद्धान्त को अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि मानव-मन की अधिकांश ग्रंथियों का आधार काम है। साहित्य में भी कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का साधारण योग रहता है। मैं समझता हूँ कि विश्व-साहित्य का वृहदांश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में संवर्धन प्राप्त करता है। आज के जीवन में और साहित्य में तो इसका योग और भी अधिक है। स्वदेश-विदेश का साहित्यकार कवि, नाटककार और सबसे अधिक उपन्यासकार इन काम मूलक ग्रंथियों से ही मुख्यतः उलझा है। भारत के उपन्यास-सम्राट् शरच्चन्द्र तो एक प्रकार से इनसे अभिभूत थे। हिन्दी में जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और बहुत अंशों में यशपाल के उपन्यास भी काम-लिप्त हैं। प्रेमचन्द ने इस विषय में अद्भुत स्वास्थ्य का परिचय दिया है। इस क्षेत्र में उनके उपन्यासों में महाकाव्योचित

दृष्टि-विस्तार मिलता है। महाकाव्यों में शृंगार, वीर आदि सभी प्रमुख वृत्तियों का यथोचित समावेश होते हुए भी मुख्य प्रतिपाद्य नहीं बन जाता। काम जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है परन्तु वह समग्र जीवन नहीं और न जीवन का साध्य ही। अतएव जीवनार्थी के लिए उसमें आवश्यकता से अधिक अनुरक्ति रखना श्रेयस्कर नहीं है ठीक इसी तरह जिस तरह कि उसके प्रति अनावश्यक विरक्ति और दमन का अभ्यास करना। जीवन-स्वास्थ्य का यही लक्षण है, और यह प्रेमचन्द में स्पष्ट रूप से मिलता है। प्रेमचन्द ने भी जीवन-धर्म को ही अपने उपन्यासों का प्रतिपाद्य बनाया है। काम का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया परन्तु उसको प्रतिपाद्य का दर्जा कभी नहीं दिया। आरंभ में उन्होंने अवैध काम-सम्बन्धी को प्रायः बचाया है; परन्तु बाद के उपन्यासों में इनको भी सहज रूप में अंकित कर दिया है। सामाजिक जीवन का एक रूप यह भी है—कुल मिलाकर यह कल्याण कर नहीं है; परन्तु फिर भी इसका अस्तित्व तो है ही। बस इसी रूप में प्रेमचन्द ने इसका अंकन किया है—उसमें कभी भी रस नहीं लिया है। उनकी अपनी जीवन-घटना, जिसका उन्होंने श्रीमती शिवरानी जी से अंतिम क्षणों में उल्लेख किया था, इसकी साक्षी हैं। स्वस्थ-साधारण जीवन के लिये कामोपभोग आवश्यक है, परन्तु वह जीवन का उद्देश्य किसी भी रूप में—और किसी भी दशा में नहीं हो सकता; व्यक्ति को उसमें खो नहीं जाना चाहिए। ऐसा करने पर जीवन का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण यही था।

## उपयोगितावाद और नीतिवाद

साधारण नार्मल व्यक्ति निसर्गतः उपयोगितावादी और नीतिवादी होता है; और प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में वे दोनों विशेषताएँ अत्यन्त मुखर हैं। दृष्टिकोण संतुलन विचार-स्वातंत्र्य और मानसिक स्वातंत्र्य के प्रतिकूल पड़ता है। क्योंकि संतुलित दृष्टिकोण जीवन का एक विशेष स्तर निश्चित कर उससे अपने को बाँध लेता है। और हानि-लाभ के मान-स्थिर कर लेता

है और उन्हीं के अनुसार जीवन-यापन करता है। यही हानि-लाभ गणना जीवन की प्रत्येक वस्तु के विषय में उसकी स्वीकृति और अस्वीकृति का आधार बन जाती है। स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र में हानि-लाभ की यह भावना सर्वथा भौतिक और तुच्छ हो जाती है; परन्तु जीवन के व्यापक और उच्च स्तर पर यह नीतिवाद का रूप धारण कर लेती है। स्वार्थी व्यक्ति जहाँ अपने तुच्छ और तात्कालिक हानि-लाभ की गणना में उलझा रहता है, वहाँ मनीषी व्यक्ति जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर व्यापक और स्थायी हानि-लाभ की चिन्ता में रत रहता है। पहले दृष्टिकोण के लिए पारिभाषिक शब्द भूतवाद है और दूसरे के लिए नीतिवाद। उपयोगिता का आधार है हानि-लाभ-विचार, और नीतिवाद का आधार है उचित अनुचित अथवा शिव अशिव विचार। हानि-लाभ जब एक का क्षणिक हानि-लाभ न रहकर अनेक का हानि-लाभ हो जाता है तो उसे ही शिव-अशिव की संज्ञा दे दी जाती है। और उपयोगितावाद नीतिवाद का रूप धारण कर लेता है। प्रेमचन्द का उपयोगितावाद इसी प्रकार का था। उसका मूल आधार था अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक हित। प्रेमचन्द के साहित्य पर सर्वत्र शिव का शासन है—सत्य और सुन्दर शिव के अनुचर होकर आते हैं। उनकी कला स्वीकृत रूप में जीवन के लिए थी और जीवन का अर्थ भी उनके लिए वर्तमान सामाजिक जीवन ही था। अतीत और आगत की रंगीन कल्पनाओं के लोभ में वे कभी नहीं पड़े। कला उनके लिए जीवन का एक प्रत्यक्ष साधन थी और उसका उपयोग उन्होंने व्यक्त रूप में निर्भ्रान्त होकर किया। कला की स्वतंत्रता की कल्पना वे स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे। केवल मनोरंजनी कला को वे मदारियों और भाँटों का खेल समझते थे। आनन्द की उनके लिये कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं थी, वह सामाजिक जीवन के मूल्यों से अनुशासित हित का ही एक अंग था। जो आनन्द सार्वजनिक हित में योग नहीं देता, वह क्षणिक उत्तेजना मात्र है, उसका कोई मूल्य नहीं। यही बात वे सौन्दर्य और सत्य ( ज्ञान-विज्ञान ) के लिए भी कहते थे। सुनते हैं प्राचीन

वास्तुकला की इमारतों को देखकर वे कहा करते थे कि ये सब कला के नाम पर यों ही व्यर्थ पड़ी हुई हैं; इनका सार्वजनिक कार्यों के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

## जीवन-दर्शन

प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन का मूलतत्त्व है मानववाद। इस मानववाद का धरातल सर्वथा भौतिक है। दूसरे शब्दों में यह मानववाद सर्वथा व्यावहारिक है। प्रेमचन्द की सहानुभूति व्यावहारिक उपयोगिता की सीमा से आगे नहीं बढ़ती या यों कहिए कि इस सीमा से आगे बढ़ना प्रेमचन्द उचित नहीं समझते। भौतिक धरातल के नीचे जाकर आत्मा की अखण्डता तक पहुँचने की उन्होंने जरूरत नहीं समझी—इसके अतिरिक्त यह उनके स्वभाव की सीमा भी थी। वहाँ तक उनकी गति भी नहीं थी। अतएव उनका मानववाद एकान्त नैतिक है—उनकी सहानुभूति पर हिताहित-विचार अथवा शिवाशिव-विचार का नियन्त्रण है। वे नैतिक मर्यादा की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवता के उस शुद्ध रूप का—जो सत्-असत् से परे है—शास्त्रीय शब्दावली में मानव की उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का जो अपने सहज रूप में गुणातीत है, साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं। इसलिए प्रेमचन्द का मानव-वाद सुधारवाद से आगे नहीं बढ़ पाया। वास्तव में अपने अंतिम रूप में मानव-वाद एक आध्यात्मिक दर्शन है और आत्मा की अखण्डता का साक्षात्कार किये बिना मानववाद की प्रतिष्ठा संभव नहीं है। प्रेमचन्द स्वभाव से विचारक और कर्मठ थे, द्रष्टा नहीं थे। उनकी चेतना का धरातल व्यावहारिक ही रहा, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक नहीं हो सका। उन्होंने इसमें विश्वास भी कभी नहीं किया क्योंकि अपने ध्येय के लिए उन्हें इसकी आवश्यकता ही नहीं हुई। उन्होंने तो अपने युग-जीवन का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिसे अध्ययन किया और उसी दृष्टि से उसके समाधान की भी खोज की। इसलिए उनको मानववाद का व्यावहारिक रूप जनवाद ही

स्वीकार्य हुआ। जनवाद के दो रूप हैं : एक दक्षिण पक्ष का जनवाद जो जागरण-सुधार-मूलक है, दूसरा वाम पक्ष का जनवाद जो क्रान्ति-मूलक है। अपने युग-धर्म अनुकूल युग-पुरुष गांधी के प्रभाव में, प्रेमचन्द ने जागरण सुधार-मूलक जनवाद को ही ग्रहण किया। गांधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष को वे नहीं अपना सके।

## आदर्श और यथार्थ

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में आदर्श और यथार्थ विषयक भ्रांति प्रायः पाई जाती है। प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में जिन उपन्यासों का प्रचार था उनमें अद्भुत और काल्पनिक का साम्राज्य था। उस समय हिन्दी पाठकों के लिए उपन्यास का अर्थ था चित्र-विचित्र घटनाओं, दृश्यों एवं पात्रों का संकलन, जिसका लोक से नहीं कल्पना-लोक से सम्बन्ध था। प्रेमचन्द के उपन्यासों में उन्हें अपना नित्य-प्रति का जीवन, अपने पास-पड़ोस के लोग, अपनी व्यावहारिक समस्याएँ मिलीं। निदान उन्होंने इन उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यास कहना आरंभ कर दिया। परन्तु जब इनका गंभीर अध्ययन होने लगा तो यह तुरन्त ही स्पष्ट हो गया कि ये उपन्यास सभी निर्भ्रान्त रूप से किसी न किसी आदर्श को लेकर चलते हैं। इनकी घटनाएँ नैत्यिक और यथार्थ हैं परन्तु उनका नियोजन एक विशेष आदर्श के अनुसार किया गया है।

इसी प्रकार उनके पात्रों के व्यक्तित्व-विकास में भी प्रकृति की मनमानी नहीं चलती वरन् कलाकार का ही आदर्श काम करता है। वास्तव में प्रेमचन्द-जैसा सुधारवादी उपन्यासकार आदर्शवादी न होता तो क्या होता? उनका जीवन-दर्शन, उनका नीतिवाद और उपयोगितावाद एक उत्कट आदर्शवाद के उपकरण-मात्र हैं। परन्तु अब यथार्थ का प्रश्न उठता है। इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि प्रेमचन्द की कथाएँ नित्य-प्रति की यथार्थ समस्याओं को लेकर चलती हैं। अर्थात् उनकी समस्याएँ इलाचन्द्र जोशी अथवा मार्क्सवादी उपन्यासकारों की भाँति सैद्धान्तिक अथवा

प्रतिज्ञात्मक (Hypothetical) नहीं हैं। वे सर्वथा व्यावहारिक एवं यथार्थ हैं। इसी प्रकार उनके पात्र और घटनाओं तथा वातावरण, सभी में यथार्थता है। ऐसी स्थिति में उन्हें क्या समझा जाय? यही उलझन पैदा हो जाती है। परन्तु वास्तव में यह उलझन भ्रान्ति मात्र है और इसका कारण यह है कि यथार्थ और आदर्श के विषय में ही लोगों को भ्रान्ति है। यथार्थवाद से तात्पर्य उस दृष्टिकोण का है। जिसमें कलाकार अपने व्यक्तित्व को यथासम्भव तटस्थ रखते हुए वस्तु को, जैसी वह है वैसी ही, देखता है और चित्रित करता है—अर्थात् यथार्थवाद के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। इसके विपरीत दो दृष्टिकोण हैं—एक रोमानी और दूसरा आदर्शवादी। कलाकार जब वस्तु पर अपने भाव और कल्पना का आरोप कर देता है और उसको अपने स्वप्नों के रंगीन आवरण में लपेटकर देखता है और चित्रित करता है, तो उसका दृष्टिकोण रोमानी हो जाता है। इसी प्रकार जब वह वस्तु पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर देता है और उसे अपने आदर्श के अनुकूल गढ़ता है तो उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी बन जाता है। प्रायः ये दोनों दृष्टिकोण—रोमानी और आदर्शवादी—सम्मिलित ही रहते हैं। परन्तु यह सर्वथा अनिवार्य नहीं है कि रोमानी धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा सम्भव है। इसके विपरीत रोमानी दृष्टिकोण के लिए भी आदर्शवाद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि भाव और कल्पना का प्राचुर्य होते हुए भी उसमें किसी नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा आवश्यक नहीं है। यह कलाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर है कि उसे व्यवहारजगत् प्रिय है या कल्पना-जगत्। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व जैसा मैंने कहा, साधारण एवं व्यावहारिक था। साथ ही उनके जीवन-आदर्श भी सर्वथा प्रत्यक्ष एवं सुनिश्चित थे। अतएव उन्होंने व्यावहारिक धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है।—सारांश यह कि आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। पहले का आधार भावमूलगत दृष्टिकोण है और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा, उसके लिए रोमानी

होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है। वह कल्पना-विलासी और स्वप्नद्रष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श—कल्पना अथवा अतीन्द्रिय लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार-जगत् की समस्याओं के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद का यही रूप है, वह रोमानी आदर्शवाद नहीं है, व्यावहारिक आदर्शवाद है। परन्तु यथार्थ-वाद नहीं है। क्योंकि यह आवश्यकता नहीं है कि जो रोमानी नहीं है, वह यथार्थ ही हो। हाँ, यथार्थ उनकी शैली का अंग अवश्य है, उनके वर्णन यथार्थ होते हैं, उनमें कल्पना के रूप-रंग न होकर वस्तु का यथा-तथ्य चित्रण रहता है। परन्तु दृष्टिकोण का निर्णय तो वर्णन की शैली से न करके उसके लक्ष्य से करना चाहिए। इसीलिए शैलीगत यथार्थ उनके आदर्शवाद के प्रतिकूल नहीं पड़ता, उसका अंग ही बन जाता है।

यहाँ तक मैंने तटस्थ रूप से अपने वैयक्तिक रुचि-वैचित्र्य को पृथक् रखते हुए, प्रेमचन्द का महत्त्वांकन करने का प्रयत्न किया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि जीवन के प्रति व्यक्तिगत कुंठाओं से मुक्त स्वस्थ दृष्टिकोण एक बहुत बड़ा गुण है—विशेषकर आज के कुंठाग्रस्त जीवन में। अपने युग के सामाजिक, राजनीतिक जीवन का इतिहास प्रस्तुत कर सकना भी साधारण बात नहीं है। उधर अपनी कला का लोक-कल्याण के लिए उपयोग करते हुए नैतिक सदादर्शों की प्रतिष्ठा करना भी कलाकार का कर्तव्य है। और अन्त में, इतना व्यापक दृष्टिकोण भी एक असाधारण विशेषता है। परन्तु फिर भी मेरा मन प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी का कला-कार मानने को नहीं है। और इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द में कुछ ऐसे गुणों का अभाव है जो इनसे महत्तर है और जीवन और साहित्य में जिनका महत्त्व अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

प्रतिभा के अनेक अंग हैं: तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता, सूक्ष्मता और व्यापकता। इनमें से प्रेमचन्द के पास केवल व्यापकता ही थी—शेष तीन गुण अपर्याप्त मात्रा में थे। वास्तव में नार्मल व्यक्तित्व की यह सहज सीमा है कि व्यापकता की तो उसके साथ संगत बैठ जाती है
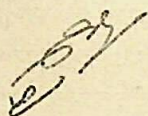
परन्तु तेजस्विता, गहनता, और तीव्रता अथवा बौद्धिक सघनता एवं दृढ़ता के लिए उसमें स्थान नहीं होता।

तेजस्विता प्रतिभा का स्पष्टतम रूप है। यह गुण गहन आंतरिक संघर्ष की अपेक्षा करता है। अन्तर्द्वंद्व की रगड़ खाकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व में तेज आता है—उसकी चेतना-शक्ति अत्यन्त प्रखर हो जाती है और उसकी अनुभूति में तीव्रता आ जाती है। परन्तु प्रेमचन्द की साधारणता में इसके लिए अधिक स्थान नहीं है। व्यवहारिक व्यक्ति को सतर्क होकर उसको दबाना होता है क्योंकि व्यवहार-जगत् में तीव्र अनुभूतियाँ या प्रखर चेतना बाधक होती हैं। प्रेमचन्द के साहित्य में इस प्रकार की घटनायें तथा पात्र, अत्यन्त विरले हैं जो पाठक की अनुभूति को उत्तेजित कर उसके मन में प्रखर चेतना उद्बुद्ध कर सकें। तीव्र अन्तर्द्वन्द्व के इसी अभाव के कारण वे आत्मा की गहराइयों में नहीं उतरते—उतर भी नहीं सकते। आत्मा की पीड़ा, जो जीवन और साहित्य में गंभीर रस की सृष्टि करती है उनके साहित्य की मूल-प्रेरणा कभी नहीं बन पायी। वह उनके जीवन-दर्शन के लिए अप्रासंगिक थी। उन्होंने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को ही सम्पूर्ण महत्त्व दे डाला है। परन्तु जीवन में तो इनसे गहनतम समस्याएँ भी हैं, अन्तर्जगत् की समस्यायें—जिन्हें प्रेमचन्द की व्यावहारिक दृष्टि ने यथेष्ट महत्त्व नहीं दिया! उनमें किसान-जमींदार, मजदूर-पूँजीपति, छूत-अछूत, शिक्षा-अशिक्षा आदि बाह्य जगत् के द्वन्द्वों का जितना विस्तृत और सफल वर्णन है उतना श्रेय और प्रेय, विवेक और प्रवृत्ति, श्रद्धा और क्रान्ति, कर्तव्य और लालसा आदि अन्तर्जगत् के द्वन्द्वों का नहीं। यह बात नहीं कि ये प्रसंग आते ही नहीं। प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों और कहानियों में ये प्रसंग आये हैं क्योंकि बाह्य-जगत् और अन्तर्जगत् का पूर्णतः पृथक्करण संभव नहीं। वे एक दूसरे से लिपटे हुए हैं। परन्तु प्रेमचन्द ने इनको वांछित महत्त्व नहीं दिया। पिछले युग की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विषमताओं को उन्होंने जितना महत्त्व दिया था उतना महत्व उसकी आध्यात्मिक विषमताओं को

नहीं दिया। प्रेमचन्द उस युग की आध्यात्मिक क्लांति का सजीव चित्र नहीं दे पाये जिसने कि उसकी आत्मा को खोखला कर दिया था, जब कि पुराने विश्वास निर्जीव पड़ गये थे, नये विश्वासों में, प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पाई थी, और भारत की आत्मा निराधार सी होकर कभी पीछे की ओर और कभी आगे की ओर दौड़ती थी। उन्होंने इस संघर्ष के बाह्य रूप को ही ग्रहण किया, शायद वहीं तक उनकी पहुँच थी। परिणाम यह कि प्रेमचन्द की दृष्टि सामयिक समस्याओं तक ही सीमित रही है। जीवन के चिरंतन प्रश्नों को उन्होंने बड़े हल्के हाथों से छुआ है या छुआ ही नहीं है। कोई भी कलाकार जीवन के शाश्वत रूपों का गहन दार्शनिक विवेचन किये बिना महान् नहीं हो सकता। परन्तु प्रेमचन्द का विचार-क्षेत्र विवेक से आगे नहीं बढ़ता। चिंतन और गंभीर दर्शन उसकी परिधि में नहीं आते। इसीलिए उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव है, और उनके उपन्यासों के विवेचन आदि में एक प्रकार का पोलपन मिलता है। विचारों की सघनता, जो गहन दार्शनिक विश्वास अथवा अविश्वास से आती है, उनमें नहीं है। यों तो विभिन्न समस्याओं का विवेचन करते समय अपने मत के प्रचार में उन्होंने पृष्ठ-के-पृष्ठ लिख डाले हैं, परन्तु उनका बौद्धिक बल साधारण विवेक-सम्मत तर्कवाद पर आश्रित होने के कारण काफी हलका होता है, और पाठक के विचार पर उसका कोई गंभीर प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए प्रसाद के 'कंकाल' को लीजिए। उपन्यास-कला की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास उससे कहीं उत्कृष्ट हैं परन्तु कंकाल का बुद्धिपक्ष निश्चित ही अधिक समृद्ध है। प्रसाद के विवेचन जहाँ दार्शनिक चिंतन पर आश्रित हैं, वहाँ प्रेमचन्द के विवेचन नैतिक-व्यावहारिक विवेक पर। व्यावहारिक व्यक्ति जिस प्रकार बाल की खाल निकालना पसन्द नहीं करता, काम-से काम रखता है, इसी प्रकार प्रेमचन्द भी किसी प्रश्न के तल तक जाने का प्रयत्न नहीं करते। निदान उनमें सूक्ष्म चिंतन और विश्लेषण का भी प्रायः अभाव है।

वास्तव में साधारण व्यक्तित्व के ये सहज अभाव हैं। साधरण व्यक्तित्व

कुछ मिलाकर द्वितीय श्रेणी का व्यक्तित्व ही रहता है। महान् होने के लिये असाधारणता अपेक्षित है क्योंकि प्रतिभा भी तो असाधारण लोकोत्तर शक्ति का नाम है। जीवन की असाधारणताओं का अनुभव कर साधारणत्व की प्राप्ति करना एक बात है और असाधारणताओं को बचाकर लीक पर चलते रहना दूसरी। पहला लोकोत्तर प्रतिभावान् महान् व्यक्तित्व का काम है, दूसरा साधारण व्यावहारिक व्यक्ति का। प्रेमचन्द पहली श्रेणी में नहीं आते।

# टिप्पणियाँ

## (१) आत्मनिर्भरता

आत्मनिर्भरता = स्वावलम्बन। भारवि—संस्कृत के एक कवि। बुनियाद = नींव। "दैव दैव आलसी पुकारा"—यह अर्धाली रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड से ली गई है। सिन्धु से मार्ग-याचना की सम्मति से लक्ष्मण सहमत न थे। उसी स्थल पर उन्होंने कहा था—"कादर मन कर एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा।" समष्टि = सबका समूह। टोटल = योग। ग्रैंड = बड़ा। चंडूखाने की गप्प = निराधार बात। गारंटी = अवश्यंभावी।

## (२) पंच परमेश्वर

पंचतत्त्व = क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा। पंच संप्रदाय = शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य। पंचामृत = दूध, दही, घी, शक्कर तथा मधु को मिलाकर बनाया हुआ विशेष पेय। पंचेन्द्रिय = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, रसना, नासिका, त्वचा) तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ)। पंचेन्द्रिय का स्वामी = मन। पंचबाण = कामदेव के पाँच बाण (द्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्माद) अथवा कामदेव के पाँच पुष्पबाण (कमल, अशोक, आम्र, नवमल्लिका और नीलोत्पल)। पंचगव्य = (दूध, दही, घी, गोबर तथा गोमूत्र)। पंचप्राण = प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान। पंचरत्न = हीरा, नीलम, लाल, मोती, सोना। पंचसंस्कार = जन्म, जाति, उपनयन, विवाह, मृत्यु। पंचगंगा = पाँच नदियों (गंगा, यमुना, सरस्वती, किरणा, धूतधापा) का समूह। पंचक्रोशी = पाँच कोस के घेरे में काशी की परिक्रमा। बजा कहे······बजा समझो = दुनियाँ जिसे ठीक कहे उसे ठीक समझो। "मर्गे अम्बोह जश्ने दारद" = बहुतों के साथ मरने में उत्सव है।

## (३) कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता

उच्छृङ्खल = स्वच्छन्द या धृष्ट। 'मा निषाद' इत्यादि सरस्वती = कहा जाता है कि एक बार महर्षि वाल्मीकि प्रातःकाल तमसा नदी में स्नान कर लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने देखा कि संभोगरत क्रौंचयुग्म में से एक को एक व्याध ने मार गिराया। इस करुण दृश्य से आर्द्र हो उनके मुख से सहसा निम्नांकित श्लोक निकल पड़ा :—

मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काम-मोहितम् ॥

(रे निषाद ! तुझे कभी चिरंतन यश न मिले क्योंकि तूने संभोगरत क्रौंच-युग्म में से एक को मार दिया)

अल्पादल्पतरा = तनिक भी। विधुरा = दुःखी। नवपरिणीता = नव विवाहिता। आलेख्य = चित्रित करने योग्य। कार्पण्य = कृपणता। 'हा हतविधिर्लसिते······विस्मृतासि' = वह अभागिन परम कृपालु मुनि के द्वारा भी उपेक्षित रही। अन्तर्दर्शी = मन की बात को जान लेनेवाले। पारायण = किसी ग्रन्थ का आद्यन्त पाठ। आत्मसुखोत्सर्ग = अपने सुखों का त्याग। नवोढत्व = नवविवाहिता वधू को नवोढ़ा कहते हैं। चित्रफलक = चित्रपट। भवभूति = संस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि जिन्होंने 'उत्तरराम-चरित' नाटक की रचना की है।

## (४) कवि-कल्पना

उदात्त = श्रेष्ठ। ऊर्जस्वित = शक्तिशाली। इंगित = इशारा। दुस्साध्य = कठिन। प्रतिवन्ध = बन्धन। विकृत = बिगड़ा हुआ। कुंठित = मंद। नयनाभिराम = जो नेत्रों को सुन्दर लगे। अगस्त = एक तारा जो भादों में उदित होता है। संवेदना = अनुभूति = प्रत्यक्षीकरण = ज्ञान। असहिष्णुता = असहनशीलता।

## (५) कहानी

अमानुष्य = मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध, पिशाचवत्। अध्यात्म = ब्रह्म-विचार या आत्मज्ञान। उपनिषद् = वेद की शाखाओं के ब्राह्मणों के वे

अन्तिम भाग जिनमें आत्मा-परमात्मा आदि का निरूपण है। जातक = वे बौद्ध कथाएँ जिनमें महात्मा बुद्धदेव के पूर्वजन्मों की बातें हैं। अतिक्रमण = उल्लंघन। आवरण = पर्दा। रोमांस = प्रेम-प्रेरित साहसिक कार्य। चेखाफ, टालस्टाय, गोर्की = रूस के महान कथाकार। एकतथ्यता = एक सत्य।

## (६) सच्चा देश-प्रेम

आत्म-भूत = हृदयंगम। रागात्मक भाव = अनुराग रंजित भाव। अवस्थान = ठहराव, टिकाव। त्वय्यायत्तं........एवोत्तरेण = कालिदास के 'मेघदूत' की इन पंक्तियों का अनुवाद पं० केशवप्रसाद मिश्र ने यों किया है:—

जलद! गाँव की नारी भोरी तुझे जान कृषि का आधार,
नेह भरी भोली चितवन से देख करेंगी तेरा प्यार।
नए जुते खेतों से सोंधी माल-भूमि पर घेरा डाल,
चटपट उत्तर को चल देना वहाँ बिता कर थोड़ा काल।

वाल्मीकि = आदि कवि, रामायण के रचयिता। इंगुदी = हिंगोट का पेड़। अंकोट या अंकोल = एक तरह का पहाड़ी वृक्ष। वानीर = पाकड़ का पेड़। शिप्रा = शिप्र झील से निकली एक नदी जिसके तट पर उज्जैनी बसी है। उत्तरीय = दुपट्टा। वेत्रवती = बेतवा। विदिशा = एक प्राचीन नगर जिसे आजकल भेलसा कहते हैं। अंगराग = सुगन्धित लेप। कलधौत = सोना।

## (७) काव्य, विज्ञान और धर्म

सम्यक् = पूरी तरह से। पार्थक्य = अलगाव। अनावृत = नग्न। विश्लेषण = छानबीन। क्षति = हानि। शिव = मंगल। इतिवृत्तात्मक = तथ्य-कथन। अशिव = अकल्याणकर। 'सत्यं.....सत्यमप्रियम्' = सत्य बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य मत बोलो। अस्थि = हड्डी। मज्जा = नली की हड्डी के भीतर का गूदा। स्पन्दनशील = अनुभवशील। 'जूही की कली' = 'निराला' जी की प्रसिद्ध अतुकान्त शृंगारिक कविता। लोकोत्तर

= असाधारण । वाङ्मय = साहित्य । संलग्नता = लगन । न्यूटन = प्रसिद्ध वैज्ञानिक जिसने पृथ्वी के आकर्षण शक्ति का पता लगाया । वाट = एक वैज्ञानिक जिसने वाष्प शक्तिका पता लगाया । लास्य = मधुर भावों को प्रदर्शित करनेवाला नृत्य । कंकाल = ठठरी । 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' = लघु से लघु और महान् से महान् । 'बावन तोले पाव रत्ती' = सटीक । चित् = चेतना या ज्ञान । प्रक्रिया = प्रणाली । सम्भाव्य = जिसके घटित होने की सम्भावना हो ।

## (८) नाटकों का प्रारम्भ

पतंजलि = 'पाणिनीय व्याकरण' पर 'महाभाष्य' के रचयिता । अध्वर्यु = यज्ञ में यजुर्वेद के मन्त्र का पाठ करनेवाला ब्राह्मण । क्षाम = बकरा । नृत्त = ताल लय के अनुसार नाच । नृत्य = भावाश्रित अभिनय । लाक्षणिक = लक्षण शक्ति पर आश्रित प्रयोग । जवनिका = सबसे आगे लगा हुआ पर्दा । लाघव के लिए = सरलता के लिए । अभिनवगुप्त = संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध आचार्य । संवर्धना = वृद्धि, विकास । अवतरण = आगमन । 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' = नान्दी या मंगलाचरण के पश्चात् रंगमंच पर आता है ।

## (९) शिक्षा का उद्देश्य

पुरुषार्थ = पुरुष का अर्थ अर्थात् मनुष्य के प्रयत्नों का लक्ष्य । व्यूह-संघटन = रचना का रूप । प्रतीयमान = ऊपर से आभासित होनेवाला । वर्णाश्रम धर्म = चारों वर्णों एवं आश्रमों के अनुसार चलनेवाला धर्म । मार्क्सवाद = कार्लमार्क्स के समाज-दर्शन पर आधृत नया समाज-सिद्धान्त । पुराकाल = प्राचीनकाल । संश्रय = अवलम्ब, आधार । शाश्वत = चिरन्तन, सदैव रहनेवाला । अविद्या = अज्ञान, माया । दृश्यमान = दिखलाई पड़नेवाला । टीसती = 'टीस' से क्रिया, पीड़ित करती । मुदिता = हर्ष, योगशास्त्र के अनुसार समाधि-योग्य संस्कार उत्पन्न करनेवाला एक परिकर्म अथवा शरीर-संस्कार । लोक-संग्रह = लोक का कल्याण । द्रष्टा = देखनेवाला । युगपत् = साथ-साथ, एक ही समय । उद्बोधन = जगाना । समष्टि = समूह ।

स्वैरिणी = स्वेच्छाचारिणी, व्यभिचारिणी। संबल = पाथेय, मार्ग का सहारा। असूया = पराये गुण में दोषारोप। कदाचार = बुरा आचरण। स्वत्व = अधिकार। आमुष्मिक = परलोक सम्बन्धी। ब्रह्म-विद्या = ब्रह्म सम्बन्धी विद्या।

## (१०) रत्न-खंड

ये गद्य खंड गद्य-गीतों की कोटि में आये हैं। ऐसे गद्य को 'गीत' इसीलिए कहा जाता है कि छन्दों का बन्धन न होने पर भी इनमें 'गीत' (प्रगीत अथवा 'लिरिक') के समस्त काव्य-तत्त्व पाये जाते हैं। कल्पना, भावना की सुकुमारता एवं सरस चित्रात्मकता इन गद्य-खंडों की निजी विशेषताएँ हैं।

क—इस गद्य खंड में अन्योक्ति पद्धति का आश्रय लिया गया है और इसका अर्थ आध्यात्मिक है। इससे यह ध्वनि-संकेत होता है कि भगवान् समय आने पर सबसे स्वेच्छानुसार कार्य करा लेता है।

ख—चन्द्र और चकोर के 'कवि-सम्प्रदाय' के सहारे लेखक ने इस आध्यात्मिक सत्य की ओर इंगित किया है कि आनन्द मनुष्य के अन्तर में ही विद्यमान है जब कि मनुष्य भ्रम से उसे अन्यत्र समझता है।

ग—आत्म-विज्ञापन एवं अहं-प्रदर्शन से भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। निश्छल व्यवहार और सहज सरलता भगवान के पाने की प्रथम सीढ़ी है।

घ—इस खंड का भी अर्थ आध्यात्मिक है। अभिमान से मनुष्य कभी भी सार तक नहीं पहुँच सकता।

## (११) कला और जीवन

तिरस्कार = अनादर, अपमान। अवज्ञा = अवहेलना। उद्वेग = चित्त की आकुलता। दुःस्वप्न = बुरे स्वप्न। अनिर्वचनीय = जिसका वर्णन न किया जा सके। स्वच्छन्दता = बन्धन विहीनता, उन्मुक्तता। चाय भरी = चाव भरी। लरजना = काँपना, हिलना-डोलना। तरजना = डाटना, डप-

टना । वार्धक्य = बुढ़ापा । क्षिप्र = तेज । निविड = घना । परिधान = वस्त्र । मध्यवित्त = मध्यम श्रेणी का । दुर्भिक्ष = अकाल । सहिष्णुता = सहनशीलता । बुभुक्षा = भूख । लोलुपता = लालच । अमितव्ययी = अधिक खर्च करनेवाला । अप्रतिम = अद्वितीय, अनुपम ।

## (१२) प्रेम और विरह

लागि रहा ततजीव = प्राण तत्स्वरूप अर्थात् उस-स्वरूप से चिपके हैं । पुट = छिड़काव, हल्की मिलावट । उसमान = हिन्दी के एक ख्यातनामा मुसलमान कवि । मौलाना रूम = फारसी के एक प्रख्यात रहस्यवादी कवि । दादूदयाल = हिन्दी के सन्त कवि । चरणदास = राम-भक्त सन्त-कवि । मीर = उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि, जिनका नाम 'गालिब' के साथ प्रायः लिया जाता है । घनानंद = हिन्दी के एक प्रेम-निष्ठ विदग्ध कवि, जिनकी प्रेमिका 'सुजान' नामक वेश्या कही गयी है । हसरते-दीदार = दर्शन की लालसा ।

## (१३) मध्यदेशीय संस्कृति और हिन्दी-साहित्य

हिन्दी-साहित्य में वैज्ञानिक खोज पूर्ण निबन्धों की शैली का प्रवर्त्तन करनेवाले डा० धीरेन्द्र वर्मा का यह निबन्ध यद्यपि कुछ प्राचीन है, इसी से रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति कही गई उक्तियों में उनके जीवित होने की ध्वनि है और बाद के छायावाद, रहस्यवाद एवं प्रगतिवाद-सम्बन्धी साहित्य के विषय में कथित वाक्य भी तद्विषयक अन्तिम मत नहीं माने जा सकते । फिर भी विद्वान् विचारक ने हिन्दी साहित्य के मूल-स्रोतों का प्रांजल निरूपण किया है ।

अन्तर्प्रान्तीय = विभिन्न प्रान्तों से सम्बन्धित । राजभाषा = शासक मण्डल द्वारा मान्य भाषा । समावेश = समान । प्रागैतिहासिक = इतिहास से पूर्व । विहंगम-दृष्टि = सरसरी दृष्टि से । संहिता = वेदों का विशुद्ध मूल-पाठ । विभोर = विस्मृत, भूला हुआ । आप्लावित = डूबा हुआ, ओतप्रोत । आख्यान = कथा । बर्नार्ड शा = अँगरेजी का प्रसिद्ध आधुनिक नाटककार ।

## (१४) व्रजभाषा-काव्य

बाजीगर = जादूगर। हृत्तन्त्री की झंकार = भावनाओं की अभिव्यक्ति। निर्द्वन्द्व = निश्चिन्त। मधुस्रवण = सरस स्वरों की वर्षा। पावस हरीतिमा = बरसाती हरियाली। अनिन्द्य-पुष्पोद्यान = सुन्दर काव्यकृतियाँ। 'अमन्द-सौरभ...मुग्ध कर रहे हैं' = अपनी सरसता से कविता-प्रेमियों को रससिक्त कर रहे हैं। "चन्द्रिकाधौतहर्म्या" = चाँदनी से धुले हुए हर्म्य ( महल )। 'आनन ओप उजास' = देखिए बिहारी का दोहा—"पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँपास। नित प्रति पूनो ही रहत आनन ओप उजास।" मेनका = एक अप्सरा। निर्वाक अन्तस्तल = शान्त गम्भीर मानस। अष्ट-छाप = कृष्णभक्ति मार्गी आठ सर्वोत्तम कवि—सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। श्रीवत्सचिह्न = विष्णु के वक्षस्थल पर का एक चिह्न जो भृगु के चरण प्रहार का चिह्न माना जाता है। ब्राह्मण = वेद का वह भाग जो मन्त्र नहीं कहलाता। उष्मा = गर्मी। उर्वर = उपजाऊ। 'जायो कुल मंगन' = मंगन कुल में उत्पन्न हुआ ( यह तुलसी की उक्ति है )। 'रत्नावली' से ज्योतिमानस = रत्नावली तुलसी की स्त्री का नाम था। उसी के वचनों से इन्हें ज्ञान का उदय हुआ और रामभक्ति की ओर आए। वीचियों = लहरियों। साखियों के सम्राट् = साखियों के सर्वश्रेष्ठ रचयिता। कृमिल-पंकिल = कीड़े-कीचड़वाले। कर्दममय = कीचड़युक्त। कालानिल = समय का प्रवाह। "चन्द्रबदनि मृगलोचनी" = देखिए केशव की पंक्तियाँ—केशव केसन असि करी जस अरिहूँ न कराहिं। चन्द्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं।" वीक्षण = देखना। तिलक = एक वृक्ष। शुक प्रयोग = पर-परित प्रयोग, रटंत प्रयोग। दादुरावृत्ति = मेढ़क की रटन के समान एक-रस आवृत्ति।

## (१५) बुढ़ापा

'उग्र' जी का यह निबन्ध 'विक्षेप-शैली' के अन्तर्गत लिखी गयी एक प्रगल्भ एवं कलापूर्ण रचना है। सजीव एवं व्यावहारिक भाषा इसके

सौन्दर्य्य के सोने की सुगन्धि है। भावावेश के उतार-चढ़ाव बड़े मार्मिक हैं। फूल-फूलकर हँसना—यौवन के निर्द्वन्द्व एवं निश्चिन्त जीवन की हास-विलास-मयता की ओर संकेत है। वाह-वाह = सुख का विषय। हाय-हाय = दुःख का विषय। स्वर्ग-दुर्लभ = स्वर्ग में भी कठिनता से प्राप्य। सागिर = मधु-घट। पैमाना = प्याला, मधु-चषक। गर्दिश = घूमता हुआ। गलित = क्षीण। पलित = श्वेत, पका हुआ। प्रवंचना = ठगा जाना, धोका। वार्धक्य = वृद्धता। उदयाचल = पुराणानुसार वह पर्वत जहाँ से सूर्य उदय होता है। दिन-मणि = सूर्य। नीलाम्बर = नीला आकाश। गुलाबी लड़क-पन = उदय होते समय की बालोचित मुख-लालिमा। हाहामयी = हाहा-कार से भरी। अप्रतिष्ठा = असम्मान। अल्हड़पन = भोलेपन से भरी लापरवाही। सौरभ-सम्पन्न = सुगन्धि-युक्त। ऋतुराज = वसन्त। भुक्त-भोगी = जिसने अपना भोग भोग लिया है, अनुभवी। लालन = प्यार का सम्बोधन। विस्मृति-मय = विस्मरण से भरा हुआ, जिसमें स्मृति सो जाती है। जाह्नवी-तोयं = गङ्गाजल। गुण = बत्ती, गुण। स्नेह = तैल, प्रेम। प्रकाश = आलोक, आशा एवं आनन्द। पंचतत्त्व = पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु। शैशव = बचपन। सुरा = शराब। समन = न्यायालय का आह्वान-पत्र, मृत्यु।

## (१६) "गांधी-नीति"

बौद्धिक = बुद्धि-सम्बन्धी। बुद्धिग्राह्य = बुद्धि में आने लायक। आस्था = विश्वास। ग्रन्थि-हीन = बाधाओं से रहित। द्वित्व = अलगाव। स्रष्टा = सृष्टि करनेवाला। अनुप्राणित = जीवन-तत्त्व पाना। अक्षुण्ण = विनाश-रहित। अभ्यासी = साधक। वर्तन = बरताव। आस्तिक = ईश्वर-सत्ता में विश्वास रखनेवाला। गुणानिगुणित = कई गुना। वासनामूलक = वासना उत्पन्न करनेवाला। सक्रिय = क्रिया-शील। समष्टिगत = समाजगत। अवज्ञा = तिरस्कार। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' = अपने धर्म पर स्थित रहकर मृत्यु भी श्रेयस्कर है। पर धर्म भयावह है। विकल्प-स्थल =

सोच-विचार का स्थल । स्वर्ग-चित्र = कल्पना के चित्र । आपाधापी = दौड़-धूप । वस्तुवादी समाजनीतियाँ = वह सामाजिक दर्शन, जो प्रत्यक्ष-जगत् को ही सब कुछ मानता है । यांत्रिक उद्योगवाद = मशीनों के बल पर चलनेवाले वर्तमान उद्योग और उनकी विविध मान्यताएँ । स्वार्थ-शोध = स्वार्थ-प्राप्ति की खोज । गर्व-स्फीत = अहंकार से फूला हुआ । 'देशी-पूँजीवाद' = अपने देश के धनपतियों द्वारा चलाया गया पूँजीवाद । एकतन्त्रवाद = जहाँ राज्य की सत्ता को संचालित करनेवाला कोई एक व्यक्ति हो ।

## (१७) प्रगतिवाद ( मानवता तथा रसभूमि )

मंगल = कल्याण । अधिष्ठान = स्थापना । सम्प्रति = इस समय । लोकानन्दविधायक = लोकको आनन्द देनेवाला । प्रकृत = स्वाभाविक । स्थूल रूप से = मोटे तौर से । अवतारणा = उत्पत्ति । लोकमंगल = लोक-कल्याण । कर्मठ = कर्म-शील । गत्यात्मक = गतिशील । सर्वभूतस्थित = सर्व-व्याप्त । उद्बुद्ध = जगाना । "वसुधैव कुटुम्बकम्" = संसार को एक परिवार की दृष्टि से देखने की भावना । तादात्म्य = मेल । व्यक्ति-वैचित्र्यवाद = अपनी रुचि के अनुसार साहित्य में विचित्रता-युक्त प्रयोग । इसकी इतनी अधिकता हो गयी है कि यह एक स्वतन्त्रवाद हो गया है ।लोकभूमि = वास्तविक-जगत् । सन्नद्ध = तत्पर । बुद्धिगम्य = बुद्धि में आने लायक । हृदय-सुलभ = हृदय द्वारा अपनाया जाने योग्य । तटस्थ = अलग । अर्थपिशाचों = शोषक धन-पति अथवा पूँजीपति । दुर्वासा = एक ऋषि, जो अपने क्रोध के लिये प्रसिद्ध थे ।। बुद्धि-प्रसूत = बुद्धि से उत्पन्न । सगुण = साकार ।

## (१८) घीसा

घरौंदा = लड़कों द्वारा खेल के लिए बनाए गये घर । भदरंग = भद्दे रंग के । अद्वैत = एकता । पछेली = हाथ का एक गहना । ढार = कान का एक गहना । इँडुरी = कपड़े की मुँदरी जिसे सिर पर रखकर बोझ रखते हैं । सौम्यता = भोलापन । दुकूल = दुपट्टा । कोरी = कपड़ा बुननेवाली एक

हिन्दू जाति । मेहरारू = पत्नी । दुर्वह = जिसे बिताना कठिन हो । शीतल-पाटी = चटाई । हौले = धीरे धीरे । अनागारिक = जिसके घर-द्वार न हो, विरक्त । दाई = छूलछुलैया के खेल में जिसे छूकर 'साव' हो जाते हैं। टिपकियाँ = भीत पर बनाए हुए उँगली के चिह्न । आर्द्र = गीली या भींगी । सिरकी = सरकंडा । प्रगल्भ = ढीठ ।

## (१९) "नाखून क्यों बढ़ते हैं"

अल्पज्ञ = थोड़ा ज्ञान रखनेवाला । प्रतिद्वन्द्वियों = सामना करनेवालों । दधीचि = एक ऋषि जिन्होंने वृत्रासुर को मारने के लिए इन्द्र को अपनी हड्डी दे दी थी । नखदन्तावलम्बी जीव = नख और दाँत के सहारे आजीविका कमानेवाला आदिम मनुष्य । ततःकिम् = ऐसा क्यों । पाशवी वृत्ति = पशु-पन । अनुवर्तिता = अनुगमन । स्व = अपनत्व । सहजात = साथ उत्पन्न, स्वभाव का अंग बन जानेवाली । विपुल = समृद्ध । उपकरण = साधन । अनुसन्धित्सा = खोज की लगन । उद्भावित = बनाये गये । असत्याचरण = असत्य व्यवहार । आत्म-निर्मित = स्वयं बनाये गये । प्राणिशास्त्रियों = मनुष्य आदि जीवों के शरीर के बारे में जाननेवाले वैज्ञानिक । तक़ाज़ा माँग । संचयन = एकत्रित करना ।

## (२०) "ताज"

विजय-तोरण = विजय-पताकायें । विक्षिप्त = पागल । भारत-सम्राट् = शाहजहाँ । प्रेयसी = प्रेमिका । घनीभूत = एकत्रित । अचिरस्थायी = नाशवान् । स्खलित = गिरा हुआ । विधुर = दुखी, मृतस्त्रीक ।

## (२१) प्रेमचन्द

प्रो० नगेन्द्र द्वारा लिखित यह निबन्ध उनकी 'विचार और विवेचन' नामक पुस्तक से उद्धृत है। इसमें लेखक ने प्रेमचन्दजी के चरित्र एवं मनस्तत्त्वों के आलोक में उनकी कृतियों एवं साहित्यिक व्यक्तित्व की महत्ता का निरूपण किया है ।

मानववादी = मनुष्य को मनुष्य मानकर और उसकी सहज सबल-

ताओं एवं दुर्बलताओं को स्वीकार करके चलनेवाले यथार्थवादी लेखक। स्वभाव-संस्कार = स्वाभाविक संस्कार। जनवाद = जनसाधारण को महत्त्व देनेवाला सिद्धान्त। वर्ग-चेतना = महर्षि मार्क्स के अनुसार विभिन्न स्वार्थों एवं हितों पर आधृत विभिन्न जन-समूहों में अपने हितोंके विरोधी वर्ग के प्रति विरोध एवं विद्रोह की भावना। राजनीतिक बुद्धिवाद = राजनीति में आनेवाले हृदय-शून्य और केवल बुद्धि से प्रेरित सिद्धान्त। सीमाएँ = विकास का वह बिन्दु जिसके आगे बढ़ने में वह असमर्थ हो जाता है। मनोग्रंथि = जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों एवं आघातों के प्रभाव से उत्पन्न विशिष्ट मानसिक वृत्ति। सन्तुलन = (बैलेंस) प्रकृत अथवा स्वाभाविक स्थिति जो जीवन की स्वस्थता का लक्षण है, साम्य। अतिचार = मान्य आचरण का उल्लंघन। अपचार = मान्य आचरण से निम्न स्तर का व्यवहार। बहिर्मुखी = बाह्य क्रियाओं में प्रकट होनेवाले। कुण्ठा = शैथिल्य, निराशाजनित अकर्मण्यता। अतिवाद = (इक्स्ट्रीमिज़्म) किसी वस्तु के सीमा से अधिक एवं अनुचित महत्त्व देने का सिद्धान्त जो विषय के दूसरे पक्ष को भूल जाता है। भावात्मक = (पाज़िटिव) रचनात्मक। अभावात्मक = निषेधात्मक, ध्वंसात्मक (निगेटिव)। भूतवाद = भौतिक हितों एवं स्वार्थों को महत्त्व प्रदान करनेवाला सिद्धान्त। सुधार—मान्य वस्तु को ही मूलतः ग्रहण कर उसके विकारों को दूर करना। क्रान्ति = जड़ से परिवर्तन, मूल आधार को ही बदल देना। प्रतिज्ञात्मक = एक सिद्धान्त या प्रतिज्ञा को मानकर चलनेवाला। अन्तर्द्वन्द्व = मानसिक वृत्तियों का भीतरी घात-प्रतिघात, भीतरी टकराहट। श्रेय = कल्याण। प्रेय = प्रिय पदार्थ। श्रद्धा = प्राचीन मान्यताओं के प्रति सम्मान। क्रांति = नवीन एवं मौलिक विधान। अन्तर्जगत् = मन की भीतरी दुनिया। तर्कवाद = बुद्धि की तर्कना-शक्ति से प्रत्येक पक्ष के पूर्ण विचार एवं शंका-समाधान की प्रणाली का सिद्धान्त। असाधारणता = साधारण स्तर से ऊपर होने का गुण।

this book is in the Class of final.

Ramlakhan